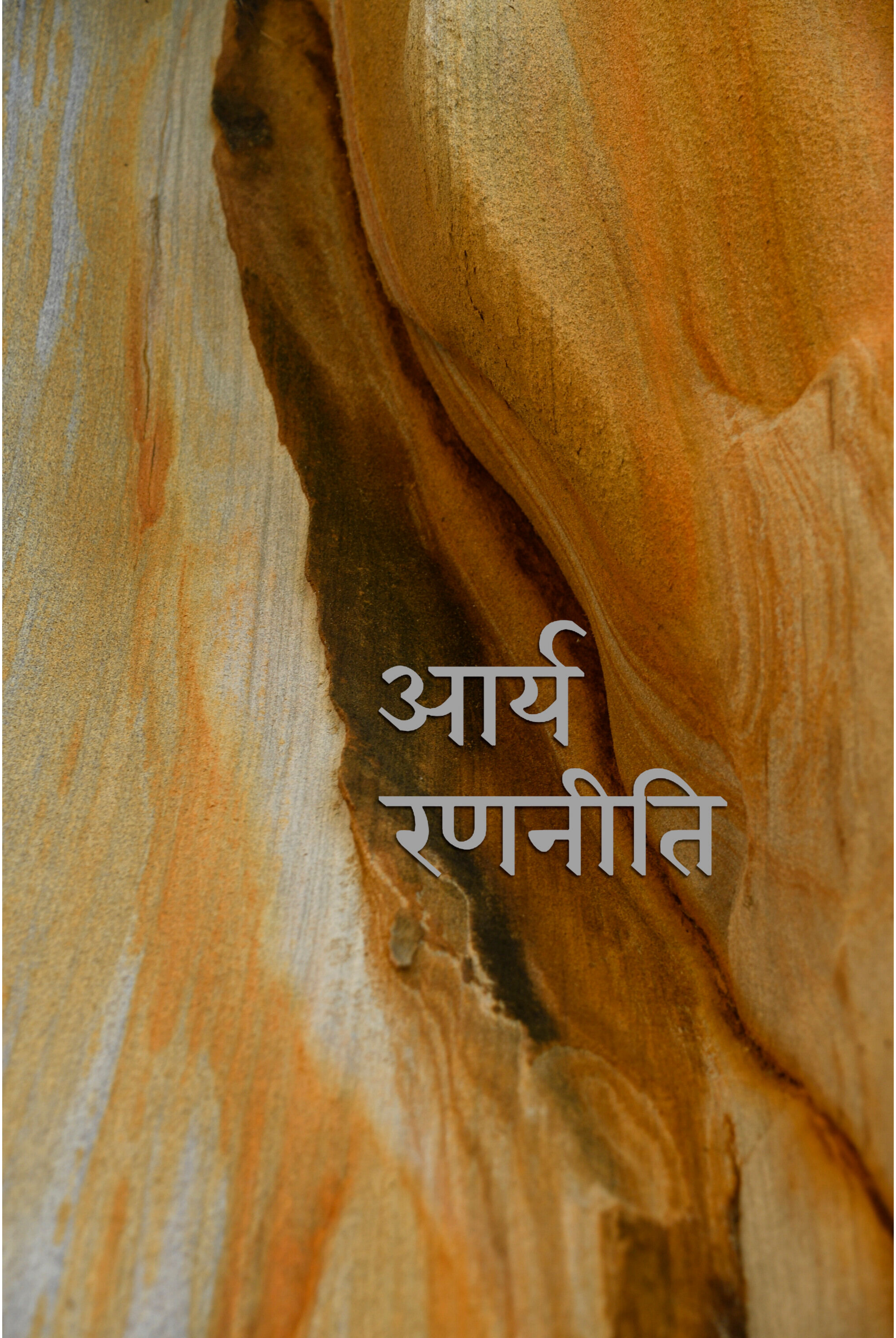

# आर्य रणनीति

# *आर्य रणनीति*

बौद्ध मार्ग पर कुछ निबंध

ठानिस्सरो भिक्खु

अनुवादक
मितुल वर्मा

# *कॉपीराइट 2026 ठानिस्सरो भिक्खु*

इस प्रकाशन का कॉपीराइट श्रेय-गैरवाणिज्यिक 4.0 अंतर्राष्ट्रीय दलील के अंतर्गत प्राप्त किया गया है। इस दलील को पढ़ने के लिए https://creativecommons.org/licenses/by-nc/4.0/deed.hi पर जाएँ। यहाँ "वाणिज्यिक" का अर्थ है किसी भी प्रकार की बिक्री, चाहे वह व्यापारिक उद्देश्यों या संस्थाओं के लिए हो, चाहे गैर-लाभकारी।

## अतिरिक्त संसाधन।

ठानिस्सरो भिक्खु द्वारा धर्म पर अन्य लेखन और प्रवचन dhammatalks.org पर डिजिटल ऑडियो और विभिन्न ई-बुक प्रारूपों में डाउनलोड के लिए उपलब्ध हैं।

# विषय-सूची


आवरण
शीर्षक पृष्ठ
कॉपीराइट
भूमिका
हृदय के सत्यों का समर्थन
कर्म
निर्वाण का मार्ग कुशल इरादों से बनता है
शील की औषधीय शक्ति
सम्यक वचन
जलेबी के बदले में सोना
एक निर्देशित ध्यान प्रयोग
स्मृति और समाधि का मार्ग
अनेक उपकरणों में से एक उपकरण
शून्यता क्या है?
अनात्म का मतलब?
निर्वाण की छवि

# भूमिका

दृष्टियां।

इस पुस्तक में बौद्ध मार्ग के मूल तत्वों पर कुछ दृष्टियां प्रस्तुत की गई हैं। इनमें शामिल हैं वे मनोवृत्तियां, धारणाएं और साधनाएं जो मन को पूर्ण मुक्ति की ओर ले जा सकती हैं। यदि दृष्टियां सही हैं, तो वे भी मार्ग में शामिल हो जाती हैं। इसलिए, इन निबंधों का सर्वोत्तम उपयोग करने के लिए यह समझना आवश्यक है कि मुक्ति पाने में दृष्टियों का क्या महत्व है।

मार्ग के बारे में कोई भी सही वचन "सम्यक दृष्टि" का भाग माना जा सकता है। लेकिन, मार्ग का लक्ष्य है पूर्ण मुक्ति, सभी दृष्टियों के लगाव से भी मुक्ति। अर्थात, सम्यक दृष्टि मार्ग के अंत में नहीं प्रमाणित की जाती। यानी कि, हम पथ का उपयोग केवल सम्यक दृष्टि तक पहुँचने के लिए नहीं कर रहे। मगर, सम्यक दृष्टि के बिना हम पथ का पालन कर ही नहीं सकते। इसलिए, एक महान लक्ष्य तक पहुँचने के लिए सम्यक दृष्टि एक उपकरण है, रणनीति है, युक्ति है। सम्यक दृष्टि की विशेषता यह है कि अस्तित्व के प्रति यह नज़रिया अंत में अपने भी पार ले जाता है। यानी कि, सम्यक दृष्टि मन में ऐसी पूछताछ जगाती है जो मन को सम्यक दृष्टि के भी पार ले जाती है। सम्यक दृष्टि की प्रभावशीलता ही उसकी सच्चाई का प्रमाण है। उसकी कार्य-विधि की सच्चाई और परिणाम की श्रेष्ठता के कारण, यह रणनीति के तौर पर आर्य बन जाती है।

ये निबंध इस आर्य रणनीति में सहायक बनने के लिए लिखे गए हैं। इस रणनीति में और बहुत कुछ शामिल है जो किसी भी पुस्तक में लिखा नहीं जा सकता। आखिरकार, सम्यक दृष्टि मार्ग का केवल एक अंग है। लेकिन मेरी आशा है कि ये निबंध तुम्हें मुक्ति के सही मार्ग पर आगे बढ़ने में मदद करेंगे, और वे जो मुद्दे उठाते हैं, वे रास्ते पर उपयोगी साबित होंगे।

ठानिस्सारो भिक्खु
(जेफ़्री डि-ग्राफ़)
अगस्त 1999; दिसंबर 2018

# *हृदय के सत्यों का समर्थन*

*संवेग और प्रसाद पर बौद्ध शिक्षण*

बौद्ध धर्म के बारे में एक बात मशहूर हो गई है – कि यह दिल का नहीं, बल्कि दिमाग का खेल है। ऐसा शायद इसलिए क्योंकि बौद्ध दर्शन में मन की भावनाओं और कामनाओं के लिए कम ही जगह नज़र आती है। लेकिन, अगर हम परंपरा को गौर से देखें, तो पायेंगे कि शुरुआत से ही वह कुछ गहरी भावनाओं से संचालित रही है।

ज़रा युवा राजकुमार सिद्धार्थ गौतम के बारे में सोचो – बुढ़ापे, बीमारी, मृत्यु और प्रव्रज्या (सन्यास) से उनकी पहली मुलाकात कैसी रही होगी। युवा राजकुमार के दिल की प्रत्यक्ष और सच्ची भावनाओं के कारण यह बौद्ध परंपरा की सबसे लोकप्रिय कथाओं में से एक है। राजकुमार ने बुढ़ापे, बीमारी और मृत्यु में खतरनाक भय देखा, और केवल सन्यास में ही अपने छुटकारे की सारी उम्मीद टिका दी। जैसे महान बौद्ध कवि अश्वघोष ने सुनाया, युवा राजकुमार के पास ऐसे दोस्तों और रिश्तेदारों की कमी न थी जो उन्हें इस विचारधारा से बाहर निकालना चाहते थे। उन रिश्तेदारों की जीवन-समर्थक सलाह को अश्वघोष ने, बड़ी समझदारी से, बहुत आकर्षक तरीके से दर्शाया। फिर भी, राजकुमार को एहसास हुआ कि उनकी सलाह को मानने का मतलब अपने दिल को धोखा देना होगा। अपनी सच्ची भावनाओं के प्रति सच्चे रहकर ही वह अपने समाज के सामान्य मूल्यों से हटकर, एक ऐसे पथ पर चल पाए, जो उन्हें बोधि की ओर, जीवन और मृत्यु की सीमाओं से परे ले गया।

यह एक साधारण रूप से जीवन-समर्थक कहानी तो नहीं, लेकिन यह जीवन से एक कहीं ज़्यादा महत्वपूर्ण बात का समर्थन करती है – एक ऐसे मन की सच्चाई जो एक परिशुद्ध सुख की आकांक्षा करता हो। इस आकांक्षा की शक्ति दो भावनाओं पर निर्भर है – "संवेग" और "प्रसाद" (पाली में "पसाद")। कम ही होंगे जिन्होंने बौद्ध संदर्भ में इन भावनाओं के बारे में सुना होगा, लेकिन वे इस परंपरा कि सबसे बुनियादी भावनाएँ हैं। युवा राजकुमार को बोधि की खोज करने के लिए इन भावनाओं ने प्रेरित तो किया; इतना ही नहीं, बल्कि भगवान बुद्ध ने, बोधि प्राप्त करने के बाद, अपने शिष्यों को दैनिक इन भावनाओं को विकसित करने का निर्देश दिया। वास्तव में, संवेग और प्रसाद को उनका समझाने का ढंग, शायद आधुनिक काल के लिए उनके सबसे महत्वपूर्ण योगदानों में से एक होगा।

युवा राजकुमार सिद्धार्थ ने पहली बार बुढ़ापे, बीमारी और मृत्यु को देखकर मन में जो महसूस किया, उसे "संवेग" कहते हैं। हिन्दी में "संवेग" का अर्थ है "एक घबराहट भरा और जोशीला वेग"। बौद्ध संदर्भ में, संवेग में तीन तरह की भावनाएं मिश्रित हैं। पहली – निराशा, भय और अकेलेपन की भावना, जब समझ आ जाए कि सामान्य रूप से जीवन जीना कितना निरर्थक होता है; दूसरी – एक दंडात्मक एहसास कि ऐसे अंधाधुंध जीने में हमारी मिलीभगत, आत्मसंतुष्टि और मूर्खता का बड़ा योगदान है; और, तीसरी – बेचैनी की भावना, जब इस अर्थहीन चक्र से बाहर निकलने की इच्छा मन में चुभे।

बड़े होते-होते, हम सब ने इन भावनाओं को कभी-न-कभी तो महसूस किया ही होगा, मगर आमतौर पर हमारा इनसे निपटने का ढंग बड़ा अकुशल होता है। संवेग की भावनाएँ आधुनिक काल में खतरनाक मानी जाती हैं, मगर बौद्ध धर्म इन्हें संभालने की हमें एक प्रभावशाली रणनीति सिखाता है।

बेशक, केवल हमारा ही ज़माना नहीं जिसे संवेग में खतरा दिखता है। राजकुमार सिद्धार्थ की कहानी में उनके पिता की प्रतिक्रिया यही दर्शाती है कि अधिकांश समाजों में क्या होता है। पिता ने राजकुमार को समझाने का प्रयत्न किया कि वह एक असंभव प्रकार का सुख ढूंढ रहा है। उसका ध्यान भटकाने के लिए, पिता ने उसे संबंधों और कामुक सुखों में मग्न रखने की कोशिश की। उन्होंने राजकुमार के लिए एक आदर्श रिश्ता तय किया, हर मौसम के लिए एक अलग महल बनवाया, बेहतरीन कपड़े और प्रसाधन प्रदान किए, मनोरंजन का निरंतर प्रदर्शन चालू रखा, और नौकरों की तनख्वाह अच्छी-खासी रखी ताकि वे राजकुमार की हर चाहत को मुस्कुराते हुए पूरी कर सकें।

यानी कि, पिता की रणनीति थी कि वे राजकुमार को अपना लक्ष्य छोटा करने के लिए मना लें, कि वह एक आधे-अधूरे, कच्चे-पक्के सुख से समझौता करने के लिए राजी हो जाए। यदि युवा राजकुमार आज जीवित होते, तो उनकी असंतुष्टि का समाधान करने के लिए उनके पिता के पास और भी साधन होते, जैसे कि मनोचिकित्सा या साधना-शिविर। लेकिन मूल युक्ति वही रहती – राजकुमार का ध्यान भटकाना और उसकी संवेदनशीलता घटाना, ताकि वह शांत हो जाए और समाज का एक संतुष्ट, लाभदायक नागरिक बन सके।

सौभाग्य से, राजकुमार ऐसी तरकीब के आगे झुकने के लिए कुछ ज़्यादा ही गरुड़-नेत्र और शेर-दिल वाले थे। और भी सौभाग्य से, उनके पैदाइश समाज प्राचीन भारत में, अवसर उपलब्ध था जिससे वह अपने हृदय के सत्यों की क़दर करते हुए अपने संवेग का समाधान खोज पाए।

उस समाधान का पहला कदम कहानी में उस चौथे व्यक्ति द्वारा दर्शाया गया है जिसको राजकुमार अपनी यात्रा पर मिलते हैं – एक घूमता-फिरता सन्न्यासी। गृहस्थ जीवन के सीमित, धूल-भरे रास्ते की तुलना में, राजकुमार ने सन्न्यास की स्वतंत्रता को खुली हवा के रूप में देखा। अपने जीवन-मृत्यु वाले प्रश्नों के उत्तर ढूंढने, और अपने उच्चतम आदर्शों के अनुसार, “एक चमकते शंख जैसे निर्मल” जीवन जीने का अवसर उन्होंने सन्न्यास के स्वतंत्र मार्ग में देखा।

इस समय जो भावना उन्होंने महसूस की, उसे “प्रसाद” (पाली में “पसाद”) कहते हैं। आजकल तो “प्रसाद” मंदिर में मिलने वाली मिठाई को कहते हैं, मगर असल में इस शब्द का मूल अर्थ है “कृपा”। बौद्ध संदर्भ में, संवेग की तरह प्रसाद में भी भावनाओं का एक जटिल समूह शामिल है। आमतौर पर इसे “स्पष्ट और शांत आत्मविश्वास” के रूप से समझाया जाता है। ये भावनाएं संवेग को निराशा में बदलने से रोकती हैं। राजकुमार सिद्धार्थ की कहानी में, उन्हें अपनी समस्या का स्पष्ट बोध हो गया, और विश्वास हो गया कि समाधान का रास्ता मिल गया है।

समस्या यह है कि जन्म, बुढ़ापे और मृत्यु का चक्र अर्थहीन ही है। प्राचीन बौद्ध सिद्धांत इस बात को नकारने की कोशिश नहीं करता, और इसलिए हमें स्वयं के प्रति झूठा या अस्तित्व के प्रति अंधा होना नहीं सिखाता। जैसे कि एक बौद्ध आचार्य ने कहा है, दुख की वास्तविकता को स्वीकार करना बौद्ध मान्यता का एक उपहार है, इतना महत्वपूर्ण कि दुख को पहले आर्य सत्य

के रूप में सम्मानित किया गया है। यह शिक्षण हमारे प्रत्यक्ष और सबसे संवेदनशील अनुभव को पुष्टि करता है, एक ऐसा अनुभव जिसे कुछ अन्य परंपराएँ नकारने की कोशिश करती हैं।

प्रसाद जगाने के बाद, प्राचीन बौद्ध शिक्षण हमें अपनी संवेदनशीलता को और बढ़ाना सिखाता हैं, जब तक कि हम एहसास न कर लें कि दुख का असली कारण कहीं बाहर, समाज या किसी अन्य व्यक्ति में नहीं, बल्कि यहाँ भीतर, प्रत्येक व्यक्ति के मन में मौजूद तृष्णा में है। फिर पुष्टि करता है कि दुख का अंत वाकई में हो सकता है, कि चक्र से मुक्ति संभव है। और वह मुक्ति पाने का मार्ग दिखाता है, जिस पर चला जाता है मन के छिपे आर्य गुणों को विकसित करके, जब तक कि मन तृष्णा को त्याग न दे और अमरता को खुल न जाए। इस प्रकार, समस्या का एक व्यावहारिक समाधान है जो हर व्यक्ति को उपलब्ध है।

यह एक ऐसा समाधान है जो जांच-परीक्षण के लिए भी खुला है। यह बात बुद्ध के संवेग से निपटने में उनके आत्मविश्वास का संकेत है। जो लोग यह सुनकर थक चुके हैं कि उन्हें अपनी संवेग-प्रेरणात्मक अनुभूतियों को नकारने चाहिए, उनके लिए यह बौद्ध धर्म के सबसे आकर्षक पहलुओं में से एक है।

वास्तव में, बौद्धों को इतना पक्का विश्वास है कि वे संवेग को संभालते ही नहीं, बल्कि उसको पूरी तरह विकसित भी करते हैं। जीवन की समस्याओं का यह समाधान ऐसा समर्पित प्रयास मांगता है कि केवल तीव्र संवेग ही साधक को अपनी पुरानी आदतों पर लौटने से रोक सकता है। इसलिए संवेग का विकास करने के लिए सभी को, चाहे दीक्षित हों या न, प्रतिदिन बुढ़ापे, बीमारी, जुदाई और मृत्यु के तथ्यों पर चिंतन करने की सलाह दी जाती है। और इसके साथ, संवेग को एक कदम आगे, प्रसाद तक ले जाने के लिए, अपने कर्मों की शक्ति पर चिंतन करना सिखाया जाता है।

जिनका संवेग इतना तीव्र हो जाता है कि वे दुख-समाप्ति के मार्ग में समाज के हर बाधक बंधन को त्यागना चाहते हों, उनके लिए बौद्ध धर्म एक समय-सिद्ध विद्या का कोष प्रदान करता है, और साथ ही एक सुरक्षा जाल भी – जो है भिक्षु संघ। यह संस्था उन्हें, गृहस्थों के दान के आधार पर, भौतिक अस्तित्व के बारे में निश्चिंत रहकर, सामान्य समाज छोड़ने का मौका देती है। जो उपासक अपने सामाजिक संबंधों को छोड़ नहीं सकते, उन्हें बौद्ध धर्म दुनिया की समस्याओं में डूबे बगैर दुनिया में जीने का उपाय देता है – दान-उदारता, शील-सदाचार और ध्यान-प्रज्ञा के मार्ग पर चलते-चलते, मन के आर्य गुणों को प्रबल करते हुए, दुख के अंत की ओर ले जाता है। भिक्षु संघ और उपासक समूह – बौद्ध परिषद की इन दो शाखाओं के बीच यह गहरा और मंगलकारी संबंध यह दिलासा देता है कि सन्न्यासी अजीब मानवद्वेषी न बन जाएं, और उपासक अपनी साधना के आधारभूत मूल्यों से संपर्क न खो बैठें।

इसलिए, जीवन के प्रति बौद्ध दृष्टि संवेग को जगाती है, यानी कि जन्म, बुढ़ापे और मृत्यु के चक्र की निरर्थकता का एक तीव्र बोध, और इसे प्रसाद में विकसित करती है, यानी कि अमरता की ओर जाने वाला एक निडर मार्ग। इस मार्ग में शामिल हैं समय-सिद्ध मार्गदर्शन, और एक सामाजिक संस्था जो इस दर्शन को जीवित और पोषित रखती है। ऐसी बातों कि हमें और हमारे समाज को बहुत ज़रूरत है। जब हम आज़माते हैं कि आधुनिक जीवन की मुख्यधारा को बौद्ध धर्म क्या प्रदान करता है, तो हमें याद रखना चाहिए कि मुख्यधारा से एक पैर बाहर रखने की

क्षमता ही इस धर्म की ताकत का एक स्रोत है। और तो और, धारा को पार करके दूसरे तट तक जाना, इस साधना का एक पारंपरिक प्रतीक है।

# *कर्म*

"कर्म" भारतीय आध्यात्मिक संस्कृति का एक प्राचीन शब्द है। इसका मूल अर्थ तो सरल है – "कार्य", लेकिन सदियों से इसकी भिन्न-भिन्न धारणाएं प्रचलित हो गईं हैं, जिस कारण इस शब्द का अस्तित्व ही खो गया है। आजकल लोग कर्म को "भाग्य" के रूप में समझते हैं, और वह भी दुर्भाग्य – अतीत से आने वाली एक रहस्यमय, अटल शक्ति, जिसके हम किसी अस्पष्ट रूप से ज़िम्मेदार हैं मगर विरोध करने योग्य नहीं। "मुझे लगता है कि यह सिर्फ़ मेरे कर्म ही होंगे", मैंने लोगों को आह भरते हुए सुना है, जब दुर्भाग्य इतनी ज़ोर से आ गिरता है, कि उन्हें हार मानने के अलावा और कोई विकल्प नहीं सूझता। इस कथन में निहित भाग्यवाद के कारण बहुत लोग कर्म की अवधारणा से घृणा करते हैं। यह एक कठोर, मतलबी दृष्टिकोण लगता है, जो यथास्थिति में हर प्रकार के दुख या अन्याय को उचित ठहरा सकता है – "अगर वह गरीब है, तो यह उसके कर्मों की वजह से होगा।" "अगर उसका बलात्कार हुआ है, तो यह उसके कर्मों की वजह से होगा।" फिर यहां से निष्कर्ष निकालना आसान लगता है कि पीड़ित पीड़ा के हकदार हैं, और इसलिए हमारी मदद के हकदार नहीं।

यह गलतफ़हमी प्रचलित हो गई क्योंकि प्राचीन भारत में कर्म की बहुत सारी अवधारणाएँ थीं, जिनमें से कई भाग्यवादी भी थीं। मगर, प्राचीन बौद्ध अवधारणा बिल्कुल भी भाग्यवादी नहीं थी। वास्तव में, अगर हम बौद्ध विचारों को करीब से देखें, तो पाएंगे कि आधुनिक समाज की तुलना में, वे अतीत के किस्सों को और भी कम महत्व देते हैं।

प्राचीन बौद्धों के हिसाब से, कर्म केवल एक सीधी रेखा में नहीं चलता। अन्य प्राचीन परंपराएं मानती थीं कि कर्म सीधा चलता है, जिसमें अतीत के कर्म वर्तमान को प्रभावित करते हैं, और वर्तमान के कर्म सिर्फ़ भविष्य को। इस कारण, उनकी दृष्टि में स्वेच्छा कि कोई जगह न थी, क्योंकि उनकी राय में वर्तमान क्षण पूरी तरह से अतीत पर निर्धारित था। वहीं दूसरी ओर, बौद्धों ने देखा कि कर्म एक "प्रतिक्रिया चक्र" में काम करता है — वर्तमान का क्षण केवल अतीत से ही नहीं, बल्कि स्वयं वर्तमान से भी प्रभावित होता है; वर्तमान के कर्म भविष्य पर असर तो करते ही हैं, मगर इसके साथ-साथ, तत्काल वर्तमान पर भी असर करते हैं। इसे "प्रतिक्रिया चक्र" इसलिए कहा गया है क्योंकि हम अपने वर्तमान कर्म के तत्कालीन परिणाम के अनुसार तुरंत उस कर्म को बदल सकते हैं। इस प्रकार, परिणाम अपने ही कारण को प्रभावित कर सकता है। समय की धारा में यह वर्तमान कर्म कि स्वतंत्र क्षमता ही स्वेच्छा को संभव बनाती है। कर्म की प्रक्रिया में इस स्वतंत्रता को बौद्धों ने "बहते पानी" के रूपक से समझाया – कभी-कभी अतीत से प्रवाह इतनी तीव्रता से आता है कि स्थिर रहने के प्रयत्न के अलावा और कुछ नहीं किया जा सकता, लेकिन कभी-कभी प्रवाह इतनी कोमलता से आता है कि उसे किसी भी दिशा में मोड़ा जा सकता है।

इसलिए, पराजित शक्तिहीनता के बजाय, कर्म की यह धारणा प्रतिक्षण मन की मुक्त क्षमता पर ध्यान केंद्रित करती है। तुम कौन हो, कहाँ से आए हो – यह उतना महत्वपूर्ण नहीं, जितना कि तुम अभी कर क्या रहे हो – मन के किन इरादों के अनुसार चल रहे हो। जीवन में जो भी

भेदभाव दिखते हैं, उनके कारण भले अतीत में होंगे, लेकिन मनुष्य का मापदंड उसकी परिस्थिति नहीं, क्योंकि वह परिस्थिति कभी भी बदल सकती है। हम अपनी परिस्थिति का किस तरह से उपयोग करते हैं, यही हमारा मापदंड है। यदि तुम पीड़ित हो, तो उस पीड़ा को समझने की कोशिश कर सकते हो, उसके पीछे के प्रतिक्रिया चक्र को चलाने वाली अकुशल मनोवृत्तियों को त्यागने की कोशिश कर सकते हो। यदि दूसरों को पीड़ित देखते हो, और हाथ बटाने की अवस्था में हो, तो उनके अतीत कर्मों पर नहीं, बल्कि अपने वर्तमान अवसर पर ध्यान दो। किसी दिन खुद को वैसी ही स्थिति में पा सकते हो, इसलिए अब वैसा करो जैसा खुद भोगना चाहोगे।

मनुष्य की श्रेष्ठता उसके अतीत से नहीं, बल्कि उसके वर्तमान के कर्मों से मापी जाती है – बौद्धों की इस मान्यता ने प्राचीन भारत की जातिवादी परंपराओं को खुली चुनौती दी थी। विशेष रूप से, उन्होंने ब्राह्मणों के जातिवादी मिथकों और दिखावों पर खूब ताने मारे। जैसा कि बुद्ध कहते हैं, कोई इसलिए श्रेष्ठ नहीं होता क्योंकि उसका जन्म ब्राह्मण गर्भ से हुआ है, बल्कि इसलिए क्योंकि वह वास्तव में कुशल इरादों के अनुसार चलता है।

जातिवाद विरोधी बौद्ध भाषणों को पढ़कर वे हमें थोड़े पुराने और विचित्र लग सकते हैं। वास्तव में, वे हमारे खुद के मिथकों पर भी सीधा निशाना लगाते हैं – खुद को अपने इतिहास से परिभाषित करने की हमारी लत पर निशाना लगाते हैं। हमारी नस्ल, जातीय विरासत, लिंग, सामाजिक और आर्थिक स्थिति, यौन-पहचान – ये हैं हमारी आधुनिक जातियां। अपनी जाति के अच्छे नाम पर गर्व करने के लिए हम उसके मिथकों के निर्माण और संरक्षण में अत्यंत ऊर्जा लगाते हैं। बौद्ध बनने के बाद भी समुदाय पहले आता है। हम एक ऐसा धर्म माँगते हैं जो हमारी मिथकों का सम्मान करे।

मगर, कर्म के सिद्धांत की दृष्टि से, हमारा इतिहास तो पुराना कर्म है, जिस पर हमारा कोई नियंत्रण नहीं। हम “क्या हैं” – इसका वर्णन सर्वोत्तम स्थिति में भी अस्पष्ट ही रहेगी, और अधम स्थिति में हानिकारक बन सकता है, यदि हम अपनी पहचान का उपयोग किसी अकुशल उद्देश्य के लिए करें। किसी भी समुदाय का मूल्य उसके सदस्यों के कुशल कर्मों से ही बनता है। और तो और, वे सज्जन भले हमारे समुदाय के ही हों, उनके सत्कर्म उनके ही रहेंगे, हमारे नहीं बन जाएंगे। और ज़ाहिर है, हर समुदाय के अपने दुर्जन भी तो होते हैं। अर्थात, समुदाय की मिथक एक बड़ी ही नाज़ुक चीज़ होती है। किसी भी नाज़ुक चीज़ को स्थाई रखने के लिए ढेर सारे लोभ, द्वेष और भ्रम का योगदान आवश्यक होता है, जो भविष्य में अनिवार्य रूप से और अकुशल कर्मों की ओर लेता जाता है।

इसलिए, अतीत की अजीब सी बची-खुची मान्यता के बजाय, कर्म पर बौद्ध शिक्षण आधुनिक संस्कृति की एक बुनियादी आदत – और दोष – के खिलाफ़ एक चुनौती है। केवल तभी, जब हम अपने समुदाय में परोक्ष गर्व करना छोड़ें, और अपने वर्तमान कर्मों और इरादों पर वास्तविक गर्व कर सकें, हम कह सकते हैं कि “कर्म” शब्द का अस्तित्व वापस लौट गया है। और तो और, हम पाएंगे कि शब्द की इस व्याख्या में छिपा है एक उपहार। यदि हम अपनी पहचान के किस्सों को त्यागकर, प्रति-क्षण अपने कर्मों के बारे में सच्चे रह सकें, और उन्हें कुशल बनाने का प्रयत्न करते रहें, तो हम खुद को और एक-दूसरे को वह उपहार दे रहे होंगे।

# निर्वाण का मार्ग कुशल इरादों से बनता है

एक पश्चिमी कहावत है, कि नरक का मार्ग भले इरादों से बनता है। लेकिन वास्तव में ऐसा नहीं है। नरक का मार्ग तो काम-वासनापूर्वक, स्वार्थी और दूषित इरादों से बनता है। भले इरादे – अहिंसक और नेक – सुख के स्वर्गों की ओर ले जाते हैं। तो इनकी प्रतिष्ठा इतनी बुरी क्यों है? इसके तीन मुख्य कारण हैं –

पहला यह, कि सभी भले इरादे कुशल नहीं होते। वे अवसर के लिए अनुचित हो सकते हैं, और इसलिए परिणाम में दुख और पछतावा ला सकते हैं।

दूसरा कारण यह, कि हम अक्सर अपने इरादों की गुणवत्ता को गलत समझते हैं। जैसे कि, यदि हम एक भले-और-बुरे गुणों से मिश्रित इरादे को केवल भला मान लें, पर फिर मिश्रित परिणाम पाने पर निराश हो जाएं।

तीसरा कारण यह, कि हम इरादे और परिणाम के संबंध को समझते नहीं। उदाहरण के लिए, मानो कि हमें एक पुराने बुरे इरादे का दुखद परिणाम वर्तमान में महसूस हो रहा हो, और वर्तमान में एक भले इरादे के परिणाम को धुंधला रहा हो, पर हम दुख के लिए अपने वर्तमान के इरादे को दोषी ठहराएं।

इन कारणों की वजह से, हम भले इरादों की क्षमता पर विश्वास करना छोड़ देते हैं। हम उन पर शक करने लगते हैं, और उन्हें श्रेष्ठ बनाने की परवाह नहीं करते।

भगवान बुद्ध की सबसे गहरी खोजों में से एक यह है कि हमारे इरादे ही हमारे जीवन के प्रमुख रचनाकार हैं, और उन्हें कौशल के रूप में संपन्न किया जा सकता है। किसी भी कौशल में संपन्नता प्राप्त करने के लिए सजगता, स्मरण-शक्ति, दृढ़ता और समझदारी जैसे गुणों की आवश्यकता होती है। यदि हम अपने इरादों और अपनी अपनी मनोवृत्तियों के संबंध में इन गुणों का विकास करें, तो हम उन्हें कुशल बना सकते हैं। इतने कुशल कि वे हमें किसी भी स्थिति में पछतावे या हानि से बचा सकते हैं। अंत में, वे हमें सबसे सच्चे सुख की ओर ले जा सकते हैं।

इस तरह अपने इरादों को प्रशिक्षित करने के लिए, गहरा आत्म-निरीक्षण चाहिए होता है। ऐसा क्यों? ज़रा भले इरादों पर अविश्वास के हमारे कारणों को ध्यान से देखो। उन सबका मूल तत्व है भ्रम। जैसा कि बुद्ध बताते हैं, राग (यानी कि लोभ और वासना), द्वेष (यानी कि घृणा) और मोह (यानी कि भ्रम) अकुशल इरादों की तीन मुख्य जड़े होती हैं। कुशल जड़ें लोभ-रहित, द्वेष-रहित और भ्रम-रहित मनोस्थितियों से उत्पन्न होती हैं। अप्रशिक्षित, साधारण मन की मिट्टी में ये कुशल और अकुशल जड़ें आपस में उलझी हुई होती हैं। यदि हम अकुशल जड़ों को अलग करके उखाड़ न दें, तो हम अपने इरादों पर पूरा विश्वास नहीं कर पाएंगे। यहां तक कि, मन में कुशल वृत्ति प्रमुख होने पर भी अकुशल जड़ें तुरंत शाखाएँ भेजकर हमें अंधा कर सकती हैं।

मोटा-मोटा समझें तो बात कुछ ऐसी दिखती है – नरक की सड़क बुरे इरादों से बनती है, जिनमें से कुछ सरसरी निगाह पर भले भी लग सकते हैं। भले ओर कुशल इरादों से बने रास्ते, जो स्वर्ग की ओर जाते हैं, नरक की सड़क के साथ ही निकलते हैं, लेकिन अक्सर अकुशलता की झाड़ियों में छिप जाते हैं। बुद्ध की खोज यह थी कि अगर हम कुशल जड़ों को पोषित करें,

तो वे नरक की सड़क को ढक सकती हैं। अगर हम अकुशलता की झाड़ियों को काट कर उन्हें जड़ से उखाड़ दें, तो हम अपने भले इरादों की कुशलता को संपन्न कर सकते हैं, जब तक कि अंततः वे हमें, कोई मार्ग की आवश्यकता से परे, एक असीमित सुख तक पहुंचा न दें।

इस प्रक्रिया का सबसे आधारभूत चरण है खुद को नरक के रास्ते से दूर रखना। यानी कि, जान-बूझकर अकुशल इरादों की जगह कुशल इरादों का विकास करना। इसका पालन उदारता और शील-सदाचार की साधना से शुरू होता है। फिर हम ध्यान की साधना से अपनी वृत्तियों को और परिशोधित करते हैं, राग, द्वेष और मोह की जड़ों को खोदते हैं ताकि वे हमारे जीवन के विकल्पों को प्रभावित न करें। राग और द्वेष तो कभी-कभी पहचान में आ जाते हैं, लेकिन मोह यानी कि भ्रम, अपने स्वभाव से अस्पष्ट और छिपा हुआ होता है। भ्रम के वश में होते हुए हमें अपने भ्रम का पता थोड़ी न चलता है। इसलिए हमें साधना द्वारा सजगता और स्मरण-शक्ति को प्रबल और शीघ्र करने में ध्यान लगाना चाहिए, ताकि हम मोह को देख सकें और मन पर सवार होने से पहले ही उखाड़ फेंक डालें।

इरादों को परिशोधित करने के लिए बुद्ध के सबसे बुनियादी ध्यान निर्देश शुरू होते हैं ध्यान के आसन पर नहीं, बल्कि दैनिक जीवन के कार्यों में। अपने सात-वर्षीय पुत्र राहुल को दिये गये प्रवचन (मज्झिम निकाय 61) में भगवान दो तरीकों से भ्रम की समस्या से निपटते हैं। पहला, जिसे पाली में कहते हैं “योनिसो मनसिकार,” यानी कि “उचित विषय पर उचित ढंग से ध्यान देना।” इसका अर्थ है, अपने अनुभव के उचित पहलुओं पर ध्यान देना, मतलब खुद से सही प्रश्न पूछना, ऐसे प्रश्न जो मन को व्यर्थ बातों में उलझाए बिना, सीधा सुख और दुख के कारणों पर ध्यान केंद्रित करते हैं। दूसरा तरीका है “कल्याण मित्रता,” जिसका अर्थ है सदाचारी, उदार और प्रज्ञावान लोगों से जुड़ना, सीखना और उनके गुणों को धारण करना। बुद्ध ने कहा कि ये दो कारक मार्ग पर साधक के लिए सबसे उपयोगी आंतरिक और बाहरी सहायक बनते हैं।

संक्षेप में, बुद्ध ने राहुल को यह सिखाया कि अपनी मानसिक स्थिति को परखने के लिए अपने ही कर्मों को दर्पण की तरह इस्तेमाल करना चाहिए। हर कर्म करने से पहले – और यहाँ “कर्म” का अर्थ है विचार, शब्द या शरीर का कोई भी कार्य – उस कर्म से अपेक्षित परिणाम पर चिंतन करना चाहिए और स्वयं से पूछना चाहिए – “क्या इस कार्य से मेरी या दूसरों की हानि होगी?” अगर हानि कि अपेक्षा हो, तो वैसा कार्य नहीं करना चाहिए। अगर कार्य हानिरहित लगे, तो उसको आगे बढ़ाना ठीक है।

मगर बुद्ध ने राहुल को सावधान किया, कि आँख मूंदकर अपनी अपेक्षाओं पर भरोसा नहीं करना चाहिए। कार्य करने के दौरान खुद से फिर पूछना चाहिए, कि क्या कोई अनपेक्षित दुष्परिणाम प्रकट तो नहीं हो रहा। यदि हो रहा हो, तो रुक जाना चाहिए। यदि नहीं, तो अंत तक उस कार्य को जारी रखना ठीक है।

हालांकि, तब भी चिंतन का काम पूरा नहीं हुआ। कार्य के अल्पकालिक और दीर्घकालिक परिणामों पर भी ध्यान देना चाहिए। अगर किसी कथनी या करनी से किसी का नुकसान हुआ हो, तो अपने गुरु या प्रज्ञावान साथियों को बताकर उनकी सलाह लेनी चाहिए। अगर केवल मन का दुष्कर्म हुआ हो, तो वैसे विचार के प्रति शर्म और घिन की भावना जगानी चाहिए। दोनों ही मामलों में, फिर उस गलती को न दोहराने का संकल्प लेना चाहिए। परंतु, अगर मूल कार्य के

दीर्घकालिक परिणाम हानिरहित साबित हों, तो खुद को सही रास्ते पर पाने का आनंद लेकर, अपना प्रशिक्षण जारी रखना चाहिए।

इससे ज़ाहिर होता है कि भ्रम को उजागर करने का आवश्यक उपाय एक जाना-पहचाना उसूल ही है – अपनी गलतियों से सीखना। परंतु, बौद्ध संदर्भ में इसके कुछ महत्वपूर्ण निष्कर्ष हैं, क्योंकि हमसे उन्हीं क्षेत्रों में सच्चाई और धैर्य मांगा जा रहा है जहाँ आमतौर पर हमारे लिए सबसे कठिन होता है – हमारे अपने ही इरादों के, कार्यों के, और उनके परिणामों के मूल्यांकन में।

बचपन में, दण्ड या डांट से बचने के लिए, हम अपने इरादों के बारे में बेइमान बनना सीख लेते हैं, जैसे कि – "मैंने जानबूझ कर नहीं किया," "मुझसे रुका नहीं गया," "मैं तो बस अपनी बाँह घुमा रहा था और वो रास्ते में आ गया।" ऐसा करते-करते, हम अपने बहानों पर विश्वास करने लगते हैं, और दूषित इरादों को अनदेखा करने लगते हैं। नतीजतन, अपने इरादों को अस्पष्ट रखने की, और उनके परिणामों की उपेक्षा करने की, हमारी आदत बन जाती है। कई बार, हम इस बात का इनकार कर देते हैं कि हमारे पास और कोई विकल्प भी था। ऐसे ही बुरी लतें लगती हैं और अकुशल वृत्तियों को खुली छूट मिल जाती है।

कर्म के परिणाम मिलने पर, हमारी प्रतिक्रिया के दौरान भी कुछ ऐसा ही होता है। हम कम ही उम्र में सच्चाई का इनकार करना सीख लेते हैं, जैसे कि – "यह मेरी गलती नहीं थी," "मेरे इस पर लेटने से पहले ही यह टूटा हुआ था" – और फिर अपने अभिमान को संभालने के लिए, इस प्रक्रिया को अपनी आत्म-पहचान में अपना लेते हैं। इस हद तक कि अपनी गलतियों के प्रभाव को अनदेखा करना हमारी प्रकृति का अंग बन जाता है।

जैसा कि बुद्ध समझाते हैं, दुख को समाप्त करने के लिए हमें तृष्णा और अविद्या को त्यागना होगा, पर अगर हम अपने इरादों के बारे में अपने से ही सच्चे नहीं हो पाएंगे, तो हम तृष्णा को त्यागने के लिए उसे समय पर कैसे पहचान पाएंगे? अगर हम अपने ही कार्यों में कारण और परिणाम के उसूल का सामना नहीं कर सकेंगे, तो अविद्या पर कैसे विजय प्राप्त करेंगे? अविद्या का मूल कारण जानकारी का अभाव नहीं है, बल्कि सजगता और आत्म-सच्चाई का अभाव है। आर्य सत्यों को समझने के लिए स्वयं से सच्चा रहना आवश्यक है, बिल्कुल उन्हीं क्षेत्रों में जहां आत्म-सच्चाई सबसे कठिन होती है।

साथ ही, धैर्य और दृढ़ता भी आवश्यक हैं। अपनी वृत्तियों को जांचते-जांचते, अकुशल इरादों को टालना सीखना होगा। इस भांति अटल रहकर, कि वे रुक जाएं, पर इतनी ज़बरदस्ती से नहीं, कि वे मन की गहराइयों में कहीं दब जाएं। हम मन को एक सभा के रूप में देखना सीख सकते हैं – सभा के कुछ सदस्यों की दूषित वृत्तियों के कारण *हम* दूषित नहीं बन जाते। सभा के मंच पर प्रस्तुत किये गये प्रत्येक मुद्दे के लिए हम ज़िम्मेदार नहीं। मुद्दे को स्वीकार या इनकार करने की शक्ति में हमारी ज़िम्मेदारी है।

इसके साथ, अपनी पुरानी आदतों या सहज वृत्तियों पर पूरा भरोसा करने वाला बचपना, हमें छोड़ देना चाहिए। पहला विचार हमेशा सही विचार नहीं होता। हमें स्वीकार कर लेना चाहिए कि कभी-कभी मनचाहे कर्मों के परिणाम दुखदायक हो सकते हैं। जैसे कि बुद्ध ने कहा, हर पल हमारे पास कर्म के चार विकल्प होते हैं – ऐसा कर्म जिसे करने कि इच्छा हो और जिसका परिणाम भी अच्छा हो; जिसे करने कि इच्छा न हो और जिसका परिणाम भी बुरा हो; जिसे करने कि इच्छा हो मगर जिसका परिणाम बुरा हो; और जिसे करने कि इच्छा न हो मगर जिसका

परिणाम अच्छा हो। पहले दो प्रकार तो आसान हैं – पहले को करने और दूसरे को नहीं करने के लिए बहुत बुद्धि की ज़रूरत नहीं होती। असली बुद्धि तो बाकी दो विकल्पों से निपटने के ढंग में दिखाई देती है।

और तो और, कर्म के परिणाम जांचने के लिए विनम्रता भी आवश्यक है। अपने आप को हमेशा सही साबित करना कोई असली आत्मसम्मान का आधार नहीं बन सकता। साथ ही, अपनी भूल को स्वीकार करने में कोई अपमान नहीं होता। हम सब भ्रम की स्थिति से आ रहे हैं। बुद्ध भी बोधि की खोज में भ्रम से ही आ रहे थे, तो स्वाभाविक है कि गलतियाँ तो होंगी ही। अपनी गलतियों को पहचानना, उन्हें सुधारने का संकल्प लेना, और इस संकल्प का कड़ाई से पालन करना, इस क्षमता में ही मनुष्य का आत्मसम्मान होता है। और यह करने के लिए यह आवश्यक है कि हम पछतावे और पश्चाताप की भावनाओं से खुद को सज़ा न देते रहें। जैसा बुद्ध ने कहा, पश्चाताप से पुरानी भूल मिट नहीं सकती। बल्कि, पश्चाताप से मन की शक्ति दुर्बल हो जाती है, जिसके कारण भविष्य में वैसी गलती न दोहराना कठिन हो जाता है।

इसलिए बुद्ध पछतावे कि जगह एक दूसरी भावना को जगाने की सलाह देते हैं – शर्म। यहां, वे यह नहीं कह रहे कि खुद को नालायक समझकर शर्मिंदा होना चाहिए। याद करो कि दोनों बुद्ध और राहुल क्षत्रिय वर्ण के थे, और इसलिए उन्हें अपने आत्मसम्मान और अपनी अपनी प्रतिष्ठा का एक तीव्र एहसास था। और, ध्यान दो कि बुद्ध ने राहुल को अपने आप को नहीं, अपनी गलतियों को शर्म से देखने को कहा है। इसका अर्थ यह है कि शर्मनाक तरीके से व्यवहार करना राहुल की प्रतिष्ठा से नीचे है। ऐसी शर्म आत्मसम्मान का संकेत है, आत्म-घृणा का नहीं। अपने दुष्कर्मों के प्रति शर्म महसूस करना राहुल का एक आदरणीय गुण है। यह गुण निश्चित करता है कि वह वैसी भूल दोहराने से बच जाएगा। ऐसा सम्मान एक स्वस्थ, उचित और लाभदायक शर्म का आधार है।

सरसरी नज़र पर, ऐसे निरंतर आत्म-निरीक्षण करना अपने जटिल जीवन को और जटिल बनाने का उपाय लगता है। परंतु, बुद्ध के निर्देश मन के प्रश्नों को निचोड़कर केवल सबसे आवश्यक मुद्दों पर ध्यान डालने का प्रयत्न करते हैं। बुद्ध अत्यधिक प्रश्नों को ग्रहण करने के खिलाफ़ साफ़-साफ़ चेतावनी देते हैं, खास तौर पर वैसे प्रश्न जो मन को निकम्मी उलझनों में लपेट दें – "मैं कौन हूं? क्या अंदर से नेक व्यक्ति हूं? या नालायक हूं?" बल्कि, बुद्ध हमें अपने इरादों और वृत्तियों पर ध्यान देना सिखाते हैं, ताकि हम अपने जीवन पर उनके प्रभाव को समझ पाएं और यह कारण-और-परिणाम की प्रक्रिया में निपुणता पाकर अपने जीवन को सुधारते चले जाएं। ऐसे ही सभी महान कलाकार और रचनाकार अपनी कला में कौशल और संपन्नता प्राप्त करते हैं।

दैनिक जीवन में अपने इरादों पर ऐसे ध्यान देते रहना साधना में भी उपयोगी साबित होता है। अपने कर्मों को हम कारण और परिणाम, कुशल और अकुशल के नज़रिए से देखकर अपने अनुभव को चार आर्य सत्यों के स्तर पर देखना शुरू कर लेते हैं – दुख की वजह (अकुशल कारण), दुख-समाप्ति का मार्ग (कुशल कारण), दुख (दुखद परिणाम), और दुख का अंत (सुखद परिणाम)। जिस प्रकार बुद्ध ने राहुल को अपने कर्म-फलों का मूल्यांकन करना सिखाया – कर्म करते हुए भी, और करने के बाद भी – उससे उनकी बोधि की सबसे मूलाधार विद्या

दर्शाई जाती है, जो यह है कि इरादों के परिणाम तत्कालीन वर्तमान में भी होते हैं, और समय के बाद भी।

जब हम वर्तमान काल को इस दृष्टिकोण से देखते हैं, तो समझ आता है कि हमारा वर्तमान का अनुभव "खुद-ब-खुद" नहीं हो रहा। बल्कि, वह हमारी संगत का परिणाम है – हमारे वर्तमान के इरादे, उनके परिणाम, और हमारे अतीत के इरादों के परिणामों की संगत – जिनमें वर्तमान इरादे सबसे प्रमुख कारक हैं। जितना हम इस संगत पर ध्यान दें, उतना इसे मन की धुंधली गहराईयों से उभारकर चेतना की रौशनी में प्रकट कर सकते हैं। वहाँ, हम अपने इरादों और वृत्तियों को प्रशिक्षित कर सकते हैं, प्रयत्न करते-करते, गलतियों को सुधारते-सुधारते, जिससे हम पाएंगे कि दुख सच में घटता जा रहा है। इस प्रकार, दैनिक जीवन में कुशल इरादों से मानसिक सुख और स्वास्थ्य का रास्ता बनता है।

जैसे-जैसे हम अपने इरादों को कौशल के बेहतरीन स्तरों तक ले जाते हैं, हम पाते हैं कि सबसे कुशल इरादे वे हैं जो मन को वर्तमान काल की स्पष्ट चेतना में सुरक्षित और सम्पूर्ण तरीके से केंद्रित कर देते हैं। जैसे-जैसे हम वर्तमान क्षण को गहराई से समझने लगते हैं, हमें बोध होता है कि सभी इरादे, जितने भी कुशल क्यों न हों, स्वाभाविक रूप से दुखदायक ही हैं। हमारे पास इस बोझ से मुक्ति पाने का एक ही उपाय बचता है – अपने वर्तमान क्षण के अनुभव को स्थाई रखने वाले इरादों को भी त्याग देना। फिर, इनके परे मौजूद असीमित मुक्ति के द्वार खुल जाते हैं।

इस प्रकार, कुशल इरादों से निर्वाण के बिल्कुल तट तक पहुंचने का रास्ता बनता है। फिर वहां से आगे, "आकाश में पंछियों की राह" जैसे, किसी मार्ग का पता नहीं चल सकता।

# *शील की औषधीय शक्ति*

भगवान बुद्ध, एक डाक्टर की तरह, मानव जाति की आध्यात्मिक बीमारियों का इलाज करते थे। तड़पते हुएदुखियारों के लिए उनकी शिक्षा दवा समान थी।

प्राचीन काल से बुद्ध की शिक्षा को दवा समान माना गया है, और यह दृष्टि अब आधुनिक काल में भी प्रचलित हो गई है। अक्सर ध्यान की क्रिया मन के रोगों के इलाज की तरह दर्शाई जाती है, और आजकल कई मनोवैज्ञानिक उसकी साधना करने की सलाह देते हैं।

हालांकि, अनुभव से पता चलता है कि केवल ध्यान से पूरा इलाज नहीं होता। उसके साथ किसी अन्य साधन की आवश्यकता मालूम पड़ती है। विशेष रूप से, आजकल के साधक आधुनिक समाज की समस्याओं से इतने घायल हो चुके हैं कि उनमें वह धैर्य, दृढ़ता और आत्मविश्वास का अभाव है जिससे वे ध्यान के औषधीय प्रभाव का लाभ उठा पाएं।

इस कमी को पहचानते हुए, कई आचार्यों ने मान लिया है कि आधुनिक समस्याओं के लिए बौद्ध मार्ग अधूरा है। इसे पूरा करने के लिए, ध्यान को कइ अन्य साधनों के साथ मिलाया जाता है – जैसे कि मिथक-कथा, कविता, मनोविज्ञान, समाजिक आंदोलन, या फिर नृत्य और संगीत। परंतु, ऐसा तो नहीं कि कमी बौद्ध मार्ग की जगह हमारे पालन करने के ढंग में हो?

बौद्ध मार्ग में केवल ध्यान की साधना ही नहीं, बल्कि सदाचार भी मौजूद है, जिसका मूल है पांच शीलों का पालन। वास्तव में, पंचशीलों का पालन मार्ग का प्रारंभिक चरण है। आधुनिक सोच में पंचशीलों को पुराने ज़माने के सूखे-फीके नियम समान माना जाता है, ऐसे नियम जो आज की सामाजिक स्थिति से कोई संबंध नहीं रखते। मगर ऐसा सोचने से हम उनके उद्देश्य से वंचित रह जाएंगे, जो है – घायल मनों की मरम्मत के लिए दवाई। विशेष रूप से, पंचशील आत्म-संकोच की दो मूल बिमारियों का इलाज करते हैं – पश्चाताप और अनदेखी।

जब हमारा व्यवहार किसी निश्चित पैमाने से गिर जाता है, हम या तो पश्चाताप करते हैं, या दो में से किसी एक प्रकार की अनदेखी का प्रयोग करते हैं। या तो अपने व्यवहार को अनदेखा करते हैं, या पैमाने का इनकार करते हैं। ऐसी प्रतिक्रियाएं मन पर घाव जैसी होती हैं। पश्चाताप खुले घाव की तरह नरम होता है, और अनदेखी करना नरम घाव पर जमी पपड़ी की तरह सख्त। जब मन इस प्रकार घायल होता है, तो वर्तमान में सुखद रूप से स्थापित नहीं हो सकता, क्योंकि खुद को नाज़ुक मांस या सख्त गांठों पर बैठा पाता है। यदि ज़बरदस्ती से मन को वर्तमान में रखा जाए, तो वह यहां केवल विकृत, तनावग्रस्त और अधूरे रूप से ही रह पाएगा। इस स्थिति में भले कोई ज्ञान भी प्राप्त क्यों न हो, वह भी विकृत और अधूरा साबित होगा। केवल जब मन घावों और गांठों से मुक्त हो जाए, तभी वह वर्तमान में सुखद रूप से स्थापित हो पाता है और अविकृत प्रज्ञा प्राप्त कर पाता है।

इधर पंचशीलों की भूमिका स्पष्ट होती है। वे इन्हीं घावों और गांठों का इलाज करने के लिए बनाए गए हैं। मंगलकारी आत्मसम्मान का आधार होता है किसी ऐसे पैमाने के अनुसार जीवन जीना, जो व्यावहारिक हो, स्पष्ट हो, करुणामय हो, और आदरणीय हो। पांच शील ऐसे ही पैमाने का पात्र निभाते हैं।

व्यावहारिक। पंचशीलों की परिभाषा सरल है – जानबूझकर हत्या, चोरी, व्यभिचार और नशा नहीं करना, और झूठ नहीं बोलना। अपने व्यवहार को इस प्रकार शीलवान बनाना हमेशा संभव है – हमेशा शायद सुलभ नहीं, मगर हमेशा संभव तो है ही। कुछ लोग शीलों को कुछ ज़्यादा ही बढ़ा-चढ़ाकर परिभाषित करते हैं – जैसे "चोरी नहीं करने" का अर्थ लेना "पृथ्वी की कोई साधन-सामग्री का दुरुपयोग नहीं करना।" मगर वे भी स्वीकार करते हैं कि वास्तव में ऐसे पैमाने के अनुसार जीना असंभव है। मनोविकृत व्यक्तियों के साथ समय बिताकर यह स्पष्ट हो जाता है कि जीवन का असंभव पैमाना रखना कितना हानिकारक हो सकता है। अगर लोगों को ऐसा पैमाना दिया जाए, जो थोड़ा श्रम और थोड़ी स्मरण-शक्ति मांगता हो, तब उनका आत्मविश्वास खूब बढ़ता है जब वे उसे निभा पाते हैं। फिर वे निष्ठापूर्वक और भी कठिन कार्यों का सामना कर सकते हैं।

स्पष्ट। शीलों की परिभाषा में कोई संदेह की जगह नहीं है। इसका मतलब वे बिल्कुल स्पष्ट निर्देश देते हैं, जिसमें अगर-मगर करने की कोई जगह नहीं। कोई भी कार्य या तो शील-अनुकूल है या शील-प्रतिकूल। फिर से, ऐसे स्पष्ट पैमानों के अनुसार जीना बहुत ही शुभ होता है। बच्चों के पालन में यह साफ़-साफ़ दिखाई देता है। हालांकि बच्चे पक्के नियमों को लेकर नाराज़ हो सकते हैं, वे पक्के नियमों के साथ कहीं ज़्यादा सुरक्षित महसूस करते हैं, बजाय कि कच्चे नियमों के साथ, जिन्हें कभी भी तोड़ा-मरोड़ा जा सके। स्पष्ट नियम मन में अव्यक्त इरादों को चोरी-छिपे घुसने से रोकते हैं। जैसे, मानो कि तुम प्राणियों की हत्या केवल तभी न करो जब उनकी उपस्थिति से तुम्हें असुविधा न हो। तब, इस पैमाने में तुमने करुणा से ऊपर सुविधा को मान लिया है। सुविधा एक छिपा इरादा बन गया, और जैसा कि हम जानते हैं, छिपे इरादे धोखेबाज़ी के लिए एक बड़ी उपजाऊ ज़मीन प्रदान करते हैं। मगर यदि तुम शीलों के दिए गए पैमानों को निभाते हो, तो जैसे कि बुद्ध कहते हैं, तुम सभी प्राणियों को असीमित सुरक्षा प्रदान कर रहे होगे। ऐसी कोई भी स्थिति नहीं जहां तुम किसी प्राणी को जानबूझकर जान से मार डालोगे, वह कितना भी असुविधाजनक क्यों न हों। बाकी के शीलों के तौर पर, तुम अन्य लोगों की संपत्ति और यौनिकता को भी असीमित सुरक्षा दोगे, और उनके साथ बातचीत में असीमित सत्य और सजगता प्रदान कर रहे होगे। जब तुम यह पाते हो कि ऐसे मामलों में खुद पर भरोसा कर सकते हो, तब तुम एक मज़बूत आत्मविश्वास का अनुभव करोगे।

करुणामय। शील का पालन करना एक करुणामय क्रिया है – दोनों के प्रति, साधक के, और उसके कर्मों से प्रभावित लोगों के प्रति। शील का पालन करने का मतलब कर्म के सिद्धांत को अपनाना, जो सिखाता है कि तुम्हारी ज़िंदगी की सबसे प्रभावशाली शक्ति है तुम्हारे विचार, वचन और व्यवहार, जिन्हें तुम वर्तमान क्षण में चुन रहे हो। इसका मतलब तुम महत्वहीन नहीं हो। अपने हर चुनाव – घर, काम, या खेल में – हर चुनाव से तुम दुनिया के सतत सृजन में भाग ले रहे हो, अपनी शक्ति अभिव्यक्त कर रहे हो। साथ ही, यह सिद्धांत तुम्हें एक ऐसे पैमाने से खुद को मापना सिखाता है जो पूरी तरह से तुम्हारे नियंत्रण में है – तुम्हारे वर्तमान क्षण के इरादे और कर्म। यानी कि, यह सिद्धांत अपने आप को अपनी बुद्धि, बल, सौंदर्य, सम्पत्ति आदि से मापने पर मजबूर नहीं करता, क्योंकि ये सब वर्तमान कर्मों से ज़्यादा पुराने कर्मों पर निर्धारित हैं। साथ ही, यह सिद्धांत पश्चाताप में डूबने की सलाह नहीं देता। इसके बजाय, यह तुम्हें अपने आदर्श मूल्यों को निभाने के मौके पर तुम्हारा ध्यान केंद्रित करवाता है, मौका जो हर पल तुम्हें उपलब्ध

हैं। शीलवान लोगों के साथ लेन-देन करना कभी भय या शक का कारण नहीं बनता। वे तुम्हारी और अपनी सुख की कामना में भेद नहीं देखते। उनका व्यक्तिगत मूल्य किसी के जीतने और किसी के हारने पर निर्भर नहीं होता। जब वे साधना में मैत्री और सजगता बढ़ाने की बात करते हैं, तो ये गुण उनके कार्यों में नज़र आते हैं। इस भांति, शील से केवल स्वस्थ लोग नहीं, बल्कि स्वस्थ समाज भी विकसित होता है, जहां आत्मसम्मान और परस्पर सम्मान में विरोध नहीं।

आदरणीय। जब तुम जीवन जीने के कोई पैमाने को अपनाते हो, तब यह जानना जरूरी है कि वह किसका पैमाना है और कहां से आया है, क्योंकि वास्तव में, तुम उन्हीं लोगों के कुल में शामिल हो रहे हो, उनकी स्वीकृति चाह रहे हो, और उनके सही-गलत के मापदंड को अपना रहे हो। यहां, तुम एक बेहतर कुल की कामना नहीं कर पाओगे – भगवान बुद्ध और उनके जागृत शिष्य। पंचशीलों को पाली में कहा गया है "विञ्ञुपसत्थानि" अर्थात "ज्ञानियों से प्रशंसित।" जैसे हमें ग्रंथों से मालूम पड़ता है, ज्ञानी लोग केवल लोकप्रियता के अनुसार किसी पैमाने को स्वीकार नहीं करते। उन्होंने सच्चे सुख की खोज में जिंदगी दावे पर लगाकर स्वयं जाना है कि, जैसे, हर परिस्थिति में झूठ हानिकारक होता है, और एक पक्के, बंधे हुए रिश्ते के बाहर यौन संबंध हर हालत में खतरनाक होता है। पंचशीलों का पालन करने वालों का शायद कोई अन्य लोग आदर न करें, मगर आर्य लोग करेंगे, और उन्हीं का आदर सबसे मायने रखता है।

परंतु, बिना किसी आर्य या ज्ञानी व्यक्ति से वास्तव में मिले, ऐसे किसी अमूर्त कुल में शामिल होना शायद ही किसी के काम आए। कठिन है उदार या दयालु बनना जब आस-पास का समाज ऐसे गुणों का खुले-आम मज़ाक उड़ाता है, और इनके बजाय चालाकी और स्वार्थ की प्रशंसा करता है। यहां बौद्ध समुदायों का पात्र सामने आता है। वे आधुनिकता की बेपरवाह प्रवृत्ति से नाता तोड़कर बड़े प्रेम से कह सकते हैं कि वे अपने सदस्यों में संयम और सहृदयता को महत्व देते हैं। ऐसा करने से, वे बुद्ध के पूरे औषधीय मार्ग को अपनाने के लिए एक स्वस्थ वातावरण प्रदान करते हैं – शीलवान कर्मों के जीवन में ध्यान और प्रज्ञा की साधना। ऐसे वातावरण में हम पाएंगे कि साधना को कोई भी मिथकों की ज़रूरत नहीं है, क्योंकि वह एक सच्चे जीवन के अस्तित्व पर आधारित है। तुम अपने जीवन जीने के पैमानों को देखकर, एक परिपक्व और ज़िम्मेदार मनुष्य के रूप में, आराम से सांस ले सकते हो, सांस छोड़ सकते हो।

# *सम्यक वचन*

मेरे आचार्य ने जैसे एक दफ़ा कहा – “अगर मुँह पर लगाम नहीं दे सकते, तो मन पर कैसे दे पाओगे?” इसी बात से दैनिक साधना में सम्यक वचन का महत्व पता चलता है।

सम्यक वचन की परिभाषा इस भांति की गई है – निम्नलिखित चार प्रकार के हानिकारक वचनों से बचना।

१. झूठ (सत्य को बहकाने के लिए कहे गए मिथ्या वचन)।

२. चुगली (लोगों के बीच वैर पैदा करने के लिए कहे गए वचन)।

३. कठोर वचन (किसी को दुख देने के लिए कहे गए वचन)।

४. व्यर्थ गपशप (कोई भी उद्देश्य के बगैर कहे गए वचन)।

ध्यान दो कि महत्व हमेशा उद्देश्य को दिया गया है। इससे सम्यक वचन का मन की साधना से संबंध पता चलता है। बोलने से पहले तुम्हें सोचना चाहिए कि तुम बोलना क्यों चाहते हैं। ऐसा करने से मन के भीतर की सभा के गुप्त, छलपूर्ण वाद-विवाद स्पष्ट होने लगता है। अगर किसी फ़ैसले के पीछे अकुशल इरादे दिखाई पड़ते हैं, तो उसे इनकार किया जा सकता है। इससे तुम अपने प्रति और भी सचेत, सच्चे और दृढ़ होना सीखते हो। और तो और, बाद में पश्चाताप लाने वाले वचन कहने से भी बच जाते हो। इस प्रकार, तुम साधना के लिए उपयोगी मानसिक गुणों को प्रबल करते हो और साथ ही ध्यान के समय, दुखद यादों से बचते हो, जो बाधा बनकर ध्यान भंग कर सकती हैं।

सम्यक वचन का अर्थ है सत्य, मधुर वचन जो मैत्री पैदा करें और मन में समाने के लायक हों। सम्यक वचन का अभ्यास करने से वचन उपहार बन जाते हैं। अन्य लोग तुम्हें और करीबी से सुनने लगेंगे और वैसे ही सम्यक प्रकार से उत्तर देने लगेंगे। इससे तुम्हें अपने कर्मों की शक्ति का एहसास होगा – वर्तमान में कर्म करने का ढंग बदलने से तुम्हारे संसार का अनुभव सचमुच प्रभावित होता है। अतीत का गुलाम रहना अनिवार्य नहीं है।

हम में से बहुतों के लिए सम्यक वचन की साधना सबसे कठिन हमारी हंसी-मज़ाक की शैली में होगी। हमें आदत है, हंसने-हंसाने के लिए, बढ़ा-चढ़ाकर बातों करना, उल्टे मतलब की बातें करना, किसी की जाति का मज़ाक उड़ाना, या बचपना करना – सब मिथ्या वचन के उदाहरण।

अगर लोगों को ऐसे लापरवाह हास्य की आदत पड़ जाए, वे हमारी कही बातों को गौर से सुनना बंद कर देंगे। इस प्रकार, हम अपना ही वचन सस्ता कर देते हैं। वैसे भी विश्व में इतने द्वंद्व हैं कि बढ़ा-चढ़ाने या उल्टी बात कहने की ज़रूरत ही नहीं। महान हास्य-कलाकार वही होते हैं जो हमें सीधे रूप से परिस्थिति की सच्चाई दिखाते हैं।

हास्य को सच्चे, समझदार और सार्थक रूप में अभिव्यक्त करने के लिए थोड़ा विचार और परिश्रम करना ज़रूरी तो है, मगर ऐसे हास्य में निपुणता प्राप्त करके हम पाएंगे कि वह इस श्रम के लायक ही है। हम अपनी बुद्धि भी तेज़ कर देंगे और अपना वाचिक वातावरण भी सुधार

देंगे। इस प्रकार, हमारा हंसी-मज़ाक भी साधना में शामिल हो जाता है, सद्गुणों को विकसित करने का और आस-पास के लोगों को कुछ मूल्यवान देने का अवसर बन जाता है।

इसलिए, अपने कथन और उसके कारण पर ध्यान दो। पाओगे कि जीभ हिलाने से हमेशा भूल नहीं होती।

# *जलेबी के बदले में सोना*

*सन्न्यास का कौशल*

हम सब सुख की खोज में लगे हुए हैं। राजा हो या रंक, चोर हो या संत, सभी दुख से मुक्ति और सुख की प्राप्ति चाहते हैं। इस सार्वजनिक बात को समझते हुए, बौद्ध दर्शन इस खोज पर दो शर्तें लगा देता है। पहली शर्त, कि सुख सच्चा हो। यानी कि निष्कपट हो, शाश्वत हो, परम हो। दूसरी शर्त, कि उसकी खोज गंभीर हो। चिंता या दुख भरी गंभीरता नहीं, मगर दृढ़ संकल्प और निष्ठा के साथ, जहां खोजी कल्याणकारी प्रकार का त्याग करने के लिए तैयार हो।

किस प्रकार के त्याग को कल्याणकारी माना जाए? यहां भी बौद्ध दर्शन एक सामान्य उसूल को शोधित करता है। जब एक छोटे सुख को त्यागने पर एक बड़ा सुख मिल जाए, तब वैसा त्याग कल्याणकारी कहलाया जाता है। जैसे कि, अगर तुम्हें कोई एक थैली जलेबी के बदले में एक किलो सोना देना चाहे, तो तुम जलेबी छोड़ने के लिए तैयार हो जाओगे। यानी कि, कल्याणकारी त्याग लाभदायक लेन-देन की तरह होता है। यह बौद्ध परंपरा की एक प्राचीन उपमा है। "बुढ़ापे के बदले बुढ़ापाहीनता, जलन के बदले निर्बंधन, जो है परम शांति, बंधन से अपार सुरक्षा" (थेरगाथा 1:32)।

आमतौर पर, हम कुछ भी त्यागने के नाम पर हिचकिचाते हैं। हमारी चले तो हम जलेबी और सोना, दोनों रख लें। मगर बड़े होते-होते यह समझ आने लगता है कि सब कुछ पा लेना असंभव होता है, कि किसी एक प्रकार के सुख को भोगने के लिए किसी दूसरे, शायद बेहतर, प्रकार के सुख का इनकार करना पड़ सकता है। तो हमें अपनी प्राथमिकताएं स्पष्ट करनी होंगी, ताकि हम अपनी सीमित ऊर्जा और अपना सीमित समय वहां लगाएं जहां हमें सबसे दीर्घकालिक फल मिल पाए।

इसका मतलब, मन को प्रथम महत्व देना होगा। वस्तुएं और रिश्ते स्थिर नहीं रह सकते, हमसे परे की शक्तियों से प्रभावित रहते हैं। इसलिए जो सुख उनसे मिलता है, वह अंत में भंगुर ही होता है, उस पर भरोसा नहीं किया जा सकता। परंतु, सही तरह से प्रशिक्षित मन की खुशहाली बुढ़ापे, बिमारी और मृत्यु से भी बच जाती है। मगर, मन का प्रशिक्षण करने के लिए समय और ऊर्जा लगानी पड़ती है। यह पहला कारण है कि सच्चे सुख की खोज में हमें कुछ बाहरी सुखों को त्यागना क्यों पड़ता है।

दूसरा कारण – बाहरी सुखों को पकड़ कर रखना अक्सर मानसिक बोझ बन जाता है, जो उनके त्यागने पर उतर जाता है। पाली सूत्रों में एक प्रसिद्ध कहानी है (उदान 2:10) जिसमें एक राजा अपने राज्य को छोड़कर भिक्षु बन जाता है। एक दिन उसके साथी भिक्षु उसे पेड़ के नीचे बैठे ज़ोर से बोलते हुए पाते हैं "आह, क्या आनंद! ओह, क्या आनंद!" अन्य भिक्षु समझते हैं कि पूर्व राजा अपने शाही सुखों के लिए तरस रहा होगा, और वे बुद्ध को यह बात बता देते हैं। बुद्ध उसे बुलाकर इसके बारे में पूछते हैं, और उनके पूछने पर पूर्व राजा समझाता है कि वह किस प्रकार के आनंद की बात कर रहा था:

“पहले मैंने अनेक चौकीदार रखे थे, महल के भीतर और महल के बाहर, शहर के भीतर और शहर के बाहर, देश के भीतर और देश के बाहर। इस प्रकार की सुरक्षा के बावजूद मैं भयभीत रहता था, बेचैन रहता था, शक से भरा रहता था। मगर अब, अकेले जंगल में जाता हूं, किसी पेड़ के नीचे या किसी खाली कमरे में बैठता हूं, निडर, शांत और आश्वस्त। बेफ़िक्र, निश्चिंत, दूसरों के दान पर जी रहा हूं, मेरा मन एक जंगली हिरण की तरह मुक्त।”

तीसरा कारण – हम इंद्रियों का रस भोगने के लिए – आंखों के लिए जलेबी, कानों के लिए जलेबी, नाक, जीभ और बदन के लिए जलेबी – इन्हें पाने के लिए, हम लोभ, द्वेष और भ्रम जैसे मानसिक गुणों को खूब विकसित करते हैं, गुण जो सक्रिय रूप से आंतरिक शांति पर बाधा डाल देते हैं। दुनिया का सारा समय और सारी ऊर्जा होने पर भी कामुक सुखों की खोज हमें लक्ष्य से दूर ही दूर लेते चली जाती है। अष्टांगिक मार्ग के दूसरे अंग, सम्यक संकल्प में इन सुखों के बारे में सिखाया गया है। सम्यक संकल्प का मतलब कामुकता, वैर भाव और हिंसक संकल्पों को त्यागना। “कामुकता” में यौनिक कामना के साथ शामिल है हर इंद्रिय-सुख की कामना जो मन की शांति भंग कर दे। “वैर भाव” का मतलब पीड़ा की इच्छा करना, अपनी या किसी और की। और “हिंसा” मतलब ऐसी कोई भी क्रिया जो इस पीड़ा को अस्तित्व में लाए।

वैर भाव और हिंसा को त्यागना चाहिए – इस बात को स्वीकार करना तो आसान है। इन्हें त्यागना शायद हमेशा आसान नहीं होता, मगर इन्हें त्यागने का संकल्प लेना प्रत्यक्ष रूप से शुभ है। वहीं दूसरी ओर, कामुक राग को त्यागने का संकल्प लेना ही दुर्लभ है, उसे सच में निभाना तो दूर की बात।

इस संकल्प का प्रतिरोध करना तो शायद एक सार्वजनिक भाव है। लोग हर जगह अपनी कामुक कल्पनाओं का मज़ा लेते हैं। बुद्ध बताते हैं कि जब वे खुद पथ पर निकले थे, तब कामुकता को त्यागने की नौबत पर उनका मन भी उत्साहित नहीं हुआ था, उसमें शांति की संभावना नहीं देख रहा था। मगर आधुनिक युग में हमारे पास सन्न्यास का प्रतिरोध करने के और भी कारण हैं। आधुनिक मनोविज्ञान सिखाता है कि कामुकता को “स्वस्थ” रूप से भोगने के अलावा हमारे पास केवल एक ही विकल्प है – भयभीत होकर उसका दमन करना। परंतु यह दोनों तरकीबें भय पर आधारित हैं।

कैसे? यदि कामुक वासनाओं का भय हो, तब उन्हें जताने, अभिव्यक्त करने, या चेतना में घुसने से भी रोका जाता है। और वहीं दूसरी ओर, आत्म-दमन का डर, क्योंकि यदि वासनाएं दबाई जाएं, तो वे मन की गहराइयों में छिप जाएंगी, और गलत मौके पर अचानक से फूट पड़ेंगी – इसलिए यह आधुनिक राय कि उन्हें भोगना ही बेहतर है।

दोनों विकल्प मन पर घोर सीमाएं लगाते हैं। दोनों की कमियां जानते हुए, बुद्ध एक तीसरा विकल्प सोच पाए – एक कुशल और निडर तरकीब जो दोनों तरफ के खतरों से बचती है।

इस तरकीब को समझने के लिए हमें सम्यक संकल्प का अष्टांगिक मार्ग के अन्य अंगों के साथ संबंध समझना होगा, खास तौर पर सम्यक दृष्टि और सम्यक समाधि। मार्ग की साधारण व्याख्या में सम्यक संकल्प, सम्यक दृष्टि के बाद आता है। और अपने सबसे कुशल रूप में, सम्यक संकल्प वही मानसिक वितर्क और विचार बन जाता है जो मन को सम्यक समाधि में प्रवेश करवाते हैं। सम्यक दृष्टि कामुक राग को समझने की एक कुशल राय प्रदान करती है ताकि हमारी खोज भटक न जाए। सम्यक समाधि एक आंतरिक शांति और आनंद का आभास

प्रदान करती है, ताकि हम राग की जड़ों को साफ़-साफ़ देख पाएं और उनको उखाड़ने की नौबत पर भयभीत न हो जाएं।

सम्यक दृष्टि के दो स्तर होते हैं – पहला, अपनी जीवनकथा में कर्म और फल से संबंधित स्तर, और दूसरा, मन में दुख और उसकी समाप्ति से संबंधित स्तर। पहला स्तर कामुक राग की कमियां दर्शाता है – कि कामुक सुख नश्वर, अस्थिर और दूखद होते हैं। जिंदगी के कई दोष कामुक राग की वजह से उत्पन्न होते हैं, धन कमाने और कायम रखने की समस्या से लेकर परिवार में झगड़े और राज्यों बीच युद्ध तक। सम्यक दृष्टि का यह स्तर हमें कामुकता में समस्या देखने के लिए तैयार करता है। दूसरा स्तर, यानी कि चार आर्य सत्यों के जरिए अपने अनुभव को देखना, हमें समस्या का समाधान करने का उपाय बताता है। समझाता है कि समस्या का मूल कामुक सुख में नहीं बल्कि कामुक राग और कामुक वासनाओं में है, क्योंकि राग मतलब आसक्ति, और किसी भी नश्वर, परिवर्तनशील सुख से आसक्ति करने से दुख ही प्राप्त होता है। वास्तव में, हमारी आसक्ति विशेष सुखों से इतनी तगड़ी या स्थिर नहीं होती जितनी सुखों के राग यानी कि कामना से। इसी आसक्ति को त्यागना होगा।

यह कैसे किया जाए? आसक्ति को खुले में लाकर। कामुक आसक्ति के दो पहलू – पुरानी आदतें, और उन आदतों को वर्तमान में स्वीकार करना – ये दोनों पहलू नासमझी और भय पर आधारित है। जैसे कि बुद्ध बताते हैं, कामुक राग हमारी कुछ गलत धारणाओं (जिसे पाली में “सञ्ञा,” हिंदी में “संज्ञा” कहते हैं) से उत्पन्न होता है। हम अनित्य, दुखदायक, भद्दी और अनात्मीय (जो मैं या मेरा नहीं है) चीज़ों में नित्यता, सुख, सुंदरता और अपनी मालकीयत देखते हैं। हम अपनी कामनाएं और उनके विषयों, दोनों को इन गलत धारणाओं से देखते हैं। अपने कामुक राग को अभिव्यक्त करना हमारे लिए मज़ेदार बन जाता है, जिससे हम अपने व्यक्तित्व की गहराइयों को प्रकट करते हैं, जिससे हम स्थाई सुख पाने की आशा करते हैं। हम मान लेते हैं कि हमारी कामनाओं के विषय इस हद तक स्थाई, आकर्षक और अपने वश में हैं कि उनसे जो सुख मिलेगा, वह कभी दुख में बदलेगा नहीं।

वास्तव में, ऐसा बिल्कुल भी नहीं होता है, मगर हम अंधाधुंध अपनी धारणाओं और संज्ञाओं पर विश्वास करते रहते हैं, अपनी आसक्तियों के मोह में मुग्ध रहते हैं। जबतक हम कामुक सुखों को भोगने या कामनाओं को अनदेखा करके दमन करने में लगे रहेंगे, तब तक आसक्ति मन की गहराइयों में छिप कर राज करती रहेगी। लेकिन जब हम जान बूझकर उसका विरोध करते हैं, वह उभर कर सामने आती है, तर्क और धमकी सहित अपनी मांगें पेश करती है। इसलिए, कामुक सुखों में घोर पाप न होने के बावजूद, हम उन्हें बार-बार टालते हैं, ताकि आसक्ति की छिपी योजनाओं को खुले में ला सकें। ऐसे ही कुशल सन्न्यास धर्म सीखने का साधन बन जाता है।

साथ ही, कुछ उपाय सीखने होंगे ताकि मन उन योजनाओं के खिलाफ़ लड़ सके। यहां सम्यक समाधि की भूमिका स्पष्ट होती है। सम्यक समाधि लगने पर पूरे शरीर में पुलक रोमांच और आनंद का अनुभव होता है, जो एक कामुक या इंद्रिय सुख नहीं है। इसलिए, सम्यक समाधि सुख भोगने का एक कुशल तरीका प्रदान करती है, जिसके ज़रिए कामुकता को त्यागने पर कमी का आभास नहीं होता। यानी कि, सम्यक समाधि निचले सुखों के लगाव को त्यागने के बदले में एक बेहतर सुख प्रदान करती है, ज़्यादा स्थाई और परिशोधित। साथ में, हमें अपने

रोके हुए लगावों के आक्रमणों से बचने के लिए एक मज़बूत आधार देती है। इस आधार के ज़रिए हमारी सजगता और स्मरण शक्ति भी स्थाई होती जाती है, ऐसे गुण जो कामुक राग के मूलभूत भ्रमों और गलतफहमियों को देखने के लिए आवश्यक हैं। और जब मन अपनी धारणाओं, मान्यताओं और गलतफहमियों के पार एक महान मुक्ति की झलक देख लेता है, तब कामुक राग का आधार नष्ट हो जाता है।

इस स्तर पर हम अपनी नज़र डालते हैं सम्यक समाधि से अपनी आसक्ति पर। जब हमारी समझ पूरी हो जाती है, हम हर प्रकार की आसक्ति को त्यागने के लिए तैयार हो जाते हैं, और एक ऐसी पूर्ण विमुक्ति का अनुभव करते हैं जिसकी व्याख्या नहीं की जा सकती।

एक प्रश्न बाकी है – यह कुशल त्याग और कुशल भोग की रणनीति दैनिक साधना में कैसे पाली जाती है? दीक्षित सन्न्यासी तो ब्रह्मचर्य का प्रण लेते हैं और सदा कामुकता को त्यागते रहने के लिए अपेक्षित होते हैं, मगर यह विकल्प सब के लिए उपलब्ध या उचित नहीं होता। इसलिए बुद्ध अपने गृहस्थ उपासकों को अस्थाई रूप से, दिन भर त्याग का अभ्यास करने का सुझाव देते हैं। महीने के चार दिनों पर – पारम्परिक रूप से पूर्णिमा, अमावस्या और आधे चांद वाली रातों के दिन – वे आठ शीलों का पालन कर सकते हैं, जिससे साधारण पंचशील में निम्नलिखित साधनाएं जुड़ जाती हैं – ब्रह्मचर्य, बारह बजे के बाद भोजन नहीं करना, कोई प्रदर्शन नहीं देखना, संगीत नहीं सुनना, कोई इत्र प्रसाधन का उपयोग नहीं करना, और ऊंचे शानदार आसन या बिस्तर का प्रयोग नहीं करना। इन अतिरिक्त शीलों का उद्देश्य है पांचों इन्द्रियां पर थोड़ा संयम लगाना। फिर, सम्यक दृष्टि को स्पष्ट करने और सम्यक समाधि को बलवान करने के लिए, पूरा दिन धर्म सुनने और ध्यान की साधना करने में बिताना। हालांकि आधुनिक काल में ऐसे चांद के हिसाब से पूरा दिन निकालना कठिन हो सकता है, इन्हें सप्ताहांत या छुट्टी के दिनों पर आयोजित किया जा सकता है। इस प्रकार, जिन्हें भी रुचि हो, वे बंधे-बंधाए अंतरालों में सामान्य जीवन की चिंता और जटिलता के बदले में सन्न्यास को कौशल के रूप में विकसित करने का मौका पा सकते हैं, एक ऐसा कौशल जो पूर्ण रूप से सच्चे सुख की गंभीर खोज के लिए अनिवार्य है।

और क्या यह एक लाभदायक लेन-देन नहीं हुआ?

# एक निर्देशित ध्यान प्रयोग

आरामदायक रूप से रीढ़ सीधी करके बैठो। आंखें बंद कर लो और मन में मैत्री के विचार उत्पन्न करो। पहले, अपने लिए मैत्री महसूस करो, क्योंकि यदि हम अपने से ही मैत्री न कर सकें, यदि सच्चे मन से अपने सुख की कामना न कर सकें, तो दूसरों के सुख की सच्ची कामना नहीं कर पाएंगे। तो बस ऐसा सोचो – "मेरा भला हो। मैं सच्चा सुख पा पाऊं।" यह स्वार्थी कामना नहीं है क्योंकि सच्चा सुख भीतर से उत्पन्न होता है। वास्तव में, अगर तुम अपने भीतर सुख का स्रोत खोज निकालो और विकसित कर लो, तो उसका प्रवाह दूसरों को भी छू लेगा। यह एक ऐसा सुख है जो किसी से कुछ भी हासिल करने पर निर्भर नहीं होता।

अब दूसरों के प्रति मैत्री भाव जगाओ, पहले उन लोगों के लिए जो दिल के करीब हैं - माता-पिता, परिवार के सदस्य, और घनिष्ठ मित्र। उन सबका भी मंगल हो। वे भी सच्चा सुख पा पाएं। अब इन विचारों को सबके प्रति फैलाते जाओ – वे लोग जिन्हें तुम अच्छे से जानते हो, फिर जिन्हें इतनी अच्छी तरह नहीं जानते, फिर जिन्हें पसंद करते हो, फिर जिन्हें ना पसंद करते हो न नापसंद करते हो, और फिर उनके प्रति भी जिन्हें नापसंद करते हो। अपनी मैत्री पर कोई सीमा न रखो, क्योंकि इससे मन पर सीमाएं लग जाती हैं। अब उनके प्रति भी मैत्री जगाओ जिन्हें तुम जानते भी नहीं। और केवल मनुष्य ही नहीं, हर दिशा में हर प्रकार के प्राणी के प्रति मैत्री महसूस करो – पूरब, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊपर, नीचे, अनंत दिशाओं में सबका मंगल हो, सब सच्चा सुख पा पाएं।

अब अपने खयालों को वापस वर्तमान में लाओ। अगर सच्चा सुख चाहते हो, तो वर्तमान में ही खोजना पड़ेगा, क्योंकि अतीत तो बीत चुका है और भविष्य पक्का नहीं है। तो यहां वर्तमान में मौजूद क्या है? यहां शरीर है, जो बैठा सांस ले रहा है, और मन है, जो सचेत है और सोच रहा है। तो इन सारी बातों को इकट्ठा करो। अपनी सांस के बारे में सोचो, आती सांस और जाती सांस के प्रति सचेत रहो। अपने विचारों को सांस पर लौटाते रहो – इसे कहते हैं स्मृति या स्मरण-शीलता। आते-जाते सांस के प्रति सचेत रहना – इसे कहते हैं सजगता। इन दो गुणों को मन में साथ-साथ रखो। स्मृति को बलवान करने के लिए चाहो तो एक शब्द का उपयोग कर सकते हो, जैसे कि "बुद्धो," जिसका अर्थ है "जागृत।" आते सांस के साथ सोचो "बुद्" और जाते सांस के साथ सोचो "धो।"

सांस को आरामदायक करने की कोशिश करो। उसे आरामदायक होने की अनुमति दो। तत्काल अपने सुख की देखभाल करने का यह एक पक्का उपाय सीखो, जिससे सजगता भी बलवान होती है। अलग-अलग प्रयोग करके देखो कि शरीर को अभी किस प्रकार की सांस सबसे सुखद लगती है। हो सकता है लंबी सांसें, छोटी सांसें, आती लंबी और जाती छोटी, या आती छोटी और जाती लंबी। भारी या हल्की, तेज़ या धीमी, गहरी या उथली। जैसे ही एक सुखद लय मिल जाए, कुछ देर उसके साथ समय बिताओ। सांस लेने की संवेदना का रस लेना सीखो। आम तौर पर, सांसों में रुकावट न हो तो बेहतर होता है। सांस को खुलकर बहने दो। सांस को केवल फेफड़ों से गुजरती हवा न मानकर, उसे शरीर में ऊर्जा के प्रवाह के रूप में

समझो, जो प्रत्येक आते-जाते सांस के साथ पूरे शरीर में बहता है – वह ऊर्जा का प्रवाह जिसके ज़रिए शरीर हवा भीतर लेता है और बाहर छोड़ता है। वह ऊर्जा का प्रवाह कैसा मालूम पड़ रहा है? उसके प्रति संवेदनशील होने की कोशिश करो। हो सकता है कि शरीर की ज़रूरतें कुछ देर बाद बदल जाएं। कभी सांस का कोई लय या ढंग सही लग सकता है, और कुछ देर बाद कुछ और सही लग सकता है। अपने शरीर की वर्तमान ज़रूरतों को पहचानकर उचित प्रतिक्रिया करना सीखो। अभी शरीर किस प्रकार की प्राण-ऊर्जा मांग रहा है? उस मांग को तुम कैसे पूरा कर सकते हो? अगर थकान महसूस कर रहे हो, तो वैसी सांस लेने की कोशिश करो जिससे शरीर जाग उठे। अगर तनाव महसूस कर रहे हो, तो वैसी सांस लो जिससे आराम मिले।

अगर मन भटक जाए, प्यार से उसे वापस ले आओ। दस बार भटके, तो दस बार वापस लाओ। सौ बार भटके, तो सौ बार वापस लाओ। हार न मानो। इस गुण को “उत्सुकता” या “लगन” कहते हैं, पाली में “आतप्पा।” मतलब, जैसे ही पता चले कि मन भटक गया है, तुरंत वापस ले आओ। आवारा मत घूमो – कभी फूल सूंघते-सूंघते, तो कभी आसमान ताकते-ताकते, तो कभी पंछियों को सुनते-सुनते। अभी काम करने आए हो – आरामदायक सांस कैसे लेते हैं, मन को कैसे शांत करके वर्तमान क्षण में स्थिर रख सकते हैं, यह सीखने का काम।

हर बार सांस पर वापस लौटने पर एक बेहद सुखदायक सांस लेने की कोशिश करो। इससे लौटने की इच्छा बढ़ेगी।

जब सांस आरामदायक लगने लगे, तब उसे शरीर के अन्य अंगों में महसूस करना शुरू कर सकते हो। अगर छोटे से स्थान में ही आरामदायक सांस के साथ रहोगे तो नींद आ सकती है। इसलिए जानबूझकर शरीर के अंग-अंग में अपनी चेतना फैलाओ। एक-एक करके शरीर का अंग-प्रत्यंग महसूस करो। प्रारंभ करने के लिए नाभि के आसपास ध्यान केंद्रित करो। शरीर के इस अंग को अपनी चेतना में खोजो – अभी कहां महसूस होता मालूम पड़ रहा है? फिर जांच के देखो – आते सांस के साथ कैसा महसूस करता है? जाते सांस के साथ कैसा महसूस करता है? किस प्रकार की सांस यहां अच्छी लग रही है? एक-दो सांसों के लिए बस ध्यान दो, और देखो अगर आते या जाते सांस के साथ कोई तनाव या खिंचाव तो नहीं पैदा हो रहा। तनावपूर्ण ढंग से तो नहीं सांस खींच रहे? दबोच कर तो नहीं छोड़ रहे? ज़बरदस्ती से बाहर तो नहीं धकेल रहे? अगर ऐसी कोई भी क्रिया करते हुए खुद को पाते हो, तो बस शिथिल होने दो। तनाव को पिघलते हुए महसूस करो, आते सांस पर भी, जाते सांस पर भी। चाहे तो प्राण-ऊर्जा को बिल्कुल वहीं, नाभी से ही शरीर में प्रवेश करते हुए महसूस करो, हर प्रकार के तनाव या खिंचाव को शिथिल करते हुए महसूस करो...

फिर चेतना को दाईं ओर, पेट के निचले दाहिने भाग पर ले आओ, और वही तीन चरणों का पालन करो – १. शरीर के उस अंग को अपनी चेतना में लगभग खोजो, २) वहां किस प्रकार की सांसें सुखद लगती हैं, यह देखने के लिए जांचो कि आते सांस के साथ वहां कैसा महसूस हो रहा है, जाते सांस के साथ कैसा, और ३) अगर कोई भी तनाव या खिंचाव महसूस होता हो, तो बस उसे शिथिल होने दो... अब चेतना को बाईं ओर, पेट के निचले बाएं भाग पर ले आओ, और वही तीन चरणों का पालन करो।

अब मन को छाती और नाभि के बीच सौर जाल पर ले आओ... और फिर उसकी दाईं ओर... और फिर बाएं ओर... फिर छाती पर... फिर गले के नीचे... और फिर सिर के बीच में।

सिर में प्राण-ऊर्जा के साथ सावधानी बरतो। बड़ी कोमलता से उसे प्रवेश करते हुए महसूस करो, केवल नाक से ही नहीं, बल्कि आंखों से भी, कानों से भी, सिर के सिरे से भी, गर्दन के पीछे से भी, मस्तिष्क की गहराइयों तक, बड़ी कोमलता से, चहरे, जबड़े, और गर्दन के आस-पास, या और कहीं भी जहां कोई तनाव महसूस हो, तो उसे शिथिल करते हुए सांस लो, शिथिल करते हुए सांस छोड़ो...

फिर वहां से धीरे-धीरे ध्यान को पीठ से नीचे की तरफ गुज़ारो, टांगों से होते, पांवों से पांवों की उंगलियों और उंगलियों के बीच की जगहों तक। पहले की तरह, प्रत्येक अंग पर ध्यान दो, जांचो कि आते-जाते सांस के साथ कैसा महसूस कर रहा है, और हर प्रकार के तनाव या खिंचाव को शिथिल होने दो ताकि प्राण-ऊर्जा आसानी से खुल कर बह पाए। फिर पूरी प्रक्रिया को दोहराओ, गर्दन के पीछे से शुरू करके कंधों से गुज़रते हुए, बाजुओं से, हाथों से, उंगलियों तक।

ऐसे शरीर का सर्वेक्षण बार-बार कर सकते हो जब तक कि ऐसा न लगे कि मन ठहरने के लिए तैयार हो गया है।

फिर, शरीर के जिस स्थान पर मन सबसे सहज रूप से स्थिर और केंद्रित महसूस करे, उसी स्थान पर ध्यान केंद्रित करो। बस, उधर अपनी चेतना को सांस के साथ एकाग्र होकर आराम से ठहरने दो। साथ ही, चेतना की सीमाओं को फैलने दो, ताकि वह पूरे शरीर में भर जाए, जैसे कमरे के बीच में रखी मोमबत्ती – ज्योति तो एक स्थान पर होती है मगर प्रकाश पूरे कमरे को रौशन कर देता है। या जाल पर एक मकड़ी – मकड़ी एक स्थान पर बैठी रहती है मगर पूरे जाल की खबर रखती है। ऐसी फैली हुई चेतना को कायम रखने के लिए उत्सुक रहो। हो सकता है कि चेतना बार-बार छोटी होती मालूम पड़े, जैसे एक गुब्बारा जिसमें छोटा-सा छेद हो। खासकर जाती सांस के दौरान ऐसा होने की संभावना रहती है। तो ऐसा सोचते रहो – "पूरा शरीर, पूरा शरीर, पूरे शरीर में सांस, सिर के सिरे से लेकर पांव की उंगलियों तक," ताकि हर सांस के साथ पूरा शरीर महसूस होता रहे। सोचिए कि प्राण-ऊर्जा शरीर के रोम-रोम से आ रही है, रोम-रोम से जा रही है। इस केंद्रित मगर विशाल चेतना को कायम रखने का दृढ़ निश्चय करो। और कुछ भी सोचने, और कहीं भी जाने, या और कुछ भी करने कि ज़रूरत नहीं। बस वर्तमान क्षण की यह केंद्रित और फैली हुई चेतना के साथ जुड़े रहो...

जब साधना समाप्त करने का समय आ जाए, खुद को याद दिलाओ कि समाप्त करने का भी कौशल होता है। बस छलांग लगाकर उठ न जाना। मेरे गुरुजी, आचार्य फ़ुअंग कहते थे कि अधिकतर लोगों के लिए साधना करना, दूसरी मंजिल तक सीढ़ी चढ़ने समान होता है, धीरे-धीरे, एक-एक कदम लेकर, बड़े ध्यान से ऊपर चढ़ना। मगर ऊपर पहुंचते ही वे सीधे खिड़की से बाहर छलांग लगा देते हैं। खुद को ऐसा न बनने दना। सोचो कि खुद को केंद्रित करने में कितना परिश्रम लगा। उसे व्यर्थ न गंवाओ।

साधना समाप्ति का पहला चरण है फिर से सभी लोगों और प्राणियों के लिए मैत्री भाव जगाना। फिर, आंखें खोलने से पहले, खुद को याद दिलाओ कि बेशक अब आंखें खुली रखोगे, अपना ध्यान फिर भी शरीर में सांस पर ही केंद्रित रखोगे। जितनी देर उस केंद्र को कायम रख सकते हो, रखने की कोशिश करो, उठने वक्त, चलने वक्त, बातचीत करने वक्त, हर स्थिति में। यानी कि, साधना समाप्त करने का कौशल है, साधना समाप्त होने ही न देना, चाहे और जो

कुछ भी कर रहे हो। वैसे केंद्रित होने के भाव से ही अपने बाकी के कार्य करना। अगर तुम मन को ऐसे केंद्रित रख पाओगे, तो उसके चाल-चलन को देखने के लिए एक पैमाना मिल जाएगा, कि मन आंतरिक और बाहरी घटनाओं पर कैसी प्रतिक्रिया कर रहा है। ऐसा एक स्थिर केंद्र होने पर ही मन के चाल-चलन में कोई बोध मिलने की संभावना हो सकती है।

# स्मृति और समाधि का मार्ग

अक्सर लोग कहते हैं कि बुद्ध दो प्रकार के ध्यान प्रयोग सिखाते थे – एक स्मृति (पाली में “सति”) वाला और एक समाधि वाला। कहते हैं कि स्मृति वाला प्रयोग सीधा रास्ता है, और समाधि वाला सुंदर, मगर घूमता-फिरता मार्ग है, जिसमें भटकने और अटकने का खतरा है। पर अगर हम देखें कि बुद्ध ने सच में क्या सिखाया, तो पता चलता है कि वे इन साधनाओं को ऐसे अलग नहीं करते थे। दोनों एक ही साधना के अंग हैं। जब भी वे स्मृति की व्याख्या करते हैं, और उसका मार्ग में महत्व समझाते हैं, वे साफ़-साफ़ कहते हैं कि सम्यक स्मृति का उद्देश्य है मन को सम्यक समाधि में ले जाना – मन को इस प्रकार स्थिर करना कि वह शांति और आराम महसूस कर सके, जहां वह गौर से और लंबे समय तक निरीक्षण कर सके, ताकि घटनाओं को वैसे जान पाए जैसी वे सच में हैं।

यह “दो साधनाओं” का मुद्दा काफ़ी हद तक इस बात पर निर्भर है कि हम पाली शब्द “झान” को कैसे समझते हैं। पाली में “ध्यान” को “झान” कहते हैं, और सम्यक समाधि की परिभाषा हमेशा “चार झानों,” यानी कि चार प्रकार के ध्यानों से की जाती है। हम सुनते आ रहे हैं कि झान के लिए बड़ी तीव्रता से घूरना होता है, जब तक कि बाहरी दुनिया का पूरा सुध-बुध न खो दें। यह व्याख्या बिल्कुल भी सम्यक स्मृति जैसी नहीं लगती, जिसमें वर्तमान क्षण (के अपने कर्मों) के प्रति सचेत रहना सिखाया जाता है। पर अगर हम भगवान बुद्ध की झान की व्याख्या देखें, तो पाएंगे कि वह ऐसी दबी हुई मनोस्थिति की बात नहीं कर रहे। झान में होने का अर्थ है बड़े सुखद रूप से पूरे शरीर के अनुभव में मग्न होना। एक विशाल, फैली हुई चेतना का आभास पूरे शरीर को भर लेता है। बुद्ध इसका वर्णन ऐसे करते हैं – एक आटे का गोला जिसे कोई गूंथ रहा हो ताकि उसमें पानी पूरी तरह से विसर्जित हो जाए मगर बाहर न चूए। या, स्रोत से भरा तालाब जहां स्रोत का शीतल जल उभर-उभर कर पूरे तालाब को भर रहा हो।

अब, जब हम पूरे शरीर के अनुभव पर ध्यान करते हैं, तब हम वर्तमान क्षण में ही उपस्थित रहते हैं। चौथे झान में शरीर में उज्ज्वल चेतना भर जाती है, और इस अवस्था में ही बुद्ध कहते हैं कि स्मृति और समता के गुण परिशुद्ध होते हैं। तो स्मृति और सजगता का अभ्यास, और संपूर्ण शरीर की स्थिर, शांतिपूर्ण चेतना – इन दोनों साधनाओं को साथ-साथ करने में कोई बाधा नहीं आनी चाहिए। वास्तव में, बुद्ध भी इन्हें जोड़कर ही सिखाते हैं, जैसे आनापानसति (आते-जाते सांस का ध्यान) के पहले चार चरणों में – १) लंबी सांसों को जानना, २) छोटी सांसों को जानना, ३) सांस लेते और छोड़ते समय पूरे शरीर को महसूस करना, ४) शरीर में सांस का अनुभव शांत होने देना। जैसे कि सुत्रों से पता चलता है, यह एक मूलभूत स्मृति प्रयोग है। साथ ही यह समाधि प्रयोग भी है। इसके जरिए साधक सम्यक स्मृति का अभ्यास करते-करते सम्यक समाधि के पहले झान/ध्यान में प्रवेश करता है।

हम सतिपट्ठान सुत्त (स्मृत्युपस्थान सूत्र - मज्झिम निकाय 10) में स्मृति-साधना के तीन स्तरों को देखकर समझ सकते हैं कि सम्यक स्मृति और सम्यक समाधि एक दूसरे की सहायता कैसे करते हैं। पहले तो सूत्र के नाम को जांचते हैं – स्मृति का उपस्थान, यानी कि अपनी स्मृति को

उपस्थित करना, ताकि वह हाज़िर हो जाए, क्षण प्रति क्षण की आवश्यकता के अनुसार सही काम करने के लिए उपलब्ध हो जाए। कैसे? चार नींवों के आधार पर स्मृति को उपस्थित किया जाता है – शरीर, संवेदनाएं, मन, और मानसिक गुण। उदाहरण के लिए शरीर से शुरू करते हैं। स्मृति उपस्थान के पहले स्तर का कार्य है "शरीर में शरीर" पर ध्यान देते रहना, लौकिक लालच या बेचैनी को ठुकराते ठुकराते। इसका मतलब शरीर को सिर्फ एक शरीर के रूप में अनुभव करते रहना, बिना सोचे कि दुनिया में उसका क्या महत्व है। यदि सुंदर दिखता है या बदसूरत, ताकतवर है या कमज़ोर, फुर्तीला है या सुस्त, मोटा या पतला – लौकिक संदर्भ में शरीर की ये चिंताजनक बातें – बुद्ध कहते हैं कि उन्हें बस एक ओर रख दो।

केवल काया के संदर्भ में काया के साथ रहो। आंखें बंद करने पर क्या मौजूद है? तुम इस "कायत्व" की संवेदना, "कायत्व" के अनुभव के साथ बैठे हो। यह है हमारा आधारभूत संदर्भ – मतलब, जो कुछ भी अनुभव होता हो, उसे शरीर के साथ संबंधित करो, यानी कि शरीर के संदर्भ में उसे देखो। इस संदर्भ के साथ ही रहने की कोशिश करो। बार-बार मन को इस काया की संवेदना/अनुभव पर लौटाते रहो, जब तक कि मन शांत न हो जाए, स्थिर न हो जाए। शुरू-शुरू में पाओगे कि मन कभी कुछ पकड़ के निकला तो कभी कुछ और। ऐसा होने पर बस जान लो कि मन भटक गया है, उसे याद दिलाओ कि अभी तो शरीर के साथ रहना है, वापस शरीर को महसूस करो, और इस अनुभव को कायम रखो। फिर मन कुछ और पकड़ कर निकल पड़ता है, तो फिर उस बात को छोड़ो, वापस आओ, और शरीर से जुड़ जाओ। सांस को मज़बूती से थाम कर रखो। आखिरकार, तुम ऐसी अवस्था तक पहुंच जाओगे जहां मन सांस को पकड़ लेगा और छोड़ेगा नहीं। फिर यहां से, चेतना में और जो कुछ भी आए, वह ऐसा कि मानो अगर कुछ हाथ के पिछले हिस्से को छू कर निकल जाए। उस पर ध्यान देने की ज़रूरत नहीं। बस शरीर को आधारभूत संदर्भ बनाकर रखो। अन्य चीजें चेतना में आती हैं, जाती हैं, और तुम उनके प्रति सचेत रहते हो, मगर सांस छोड़कर उनका पीछा नहीं करते। इस अवस्था पर तुमने काया के आधार पर सबल स्मृत्युपस्थान कर लिया है – यानी, काया को संदर्भ के तौर पर खड़ा करके इसके संबंध में अपनी स्मृति और सजगता को उपस्थित कर लिया है।

ऐसा करने पर तीन मानसिक गुण विकसित हो रहे हैं –

पहली है स्मृति, यानी कि याद रखने की क्षमता, मन में कुछ कायम रखने की क्षमता। काया की स्मृति उपस्थित करने के समय, इसका मतलब यह याद रखना कि सब कुछ काया के संदर्भ में ही देखना है। खुद को भूलने नहीं देना। साथ में, काया पर ध्यान कैसे कायम रखते हैं, और अड़चनों को कैसे ठुकराते हैं – इसके बारे में जो जो दूसरों से सीखा है, और अपनी साधना से भी, उसे याद रखना।

दूसरा मानसिक गुण है सजगता (पाली में "संपजञ्ञा", संस्कृत में "संप्रजन्य")। मतलब वास्तव में तुम वर्तमान में कर क्या रहे हो, उसके प्रति सजग रहना। क्या ध्यान शरीर पर ही है? सांस पर है? कैसा परिणाम मिल रहा है? क्या सांस आरामदायक है या नहीं? अक्सर हम "स्मृति/सति" का अर्थ "सजगता" ही ले लेते हैं, मगर वाकई में वे भिन्न हैं। स्मृति मन में याद रखती है कि ध्यान कहां लगाकर रखना चाहिए, और सजगता देखती रहती है कि वास्तव में किया क्या जा रहा है, और कैसा परिणाम मिल रहा है।

तीसरा मानसिक गुण है “उत्सुकता” या “लगन” जिसे पाली में कहते हैं “आतप्प,” संस्कृत में “आतपः।” यह है तपने की चाह, परिश्रम करने की चाह, सीखने की चाह। साधना में इसका मतलब, जिस क्षण पता लग जाए कि मन भटक गया है, उसे तुरंत वापस ले आओ। तुरंत। उसे इधर-उधर घूमने न दें। और जब मन उचित विषय पर स्थित हो जाए, “उत्सुकता” का मतलब हो जाता है बहुत करीबी से ध्यान देना। जो घट रहा हो, उसके प्रति ज़्यादा से ज़्यादा संवेदनशील होने की कोशिश करना। वर्तमान में बस बह नहीं जाना, बल्कि गहराई से मन या सांस की सूक्ष्मतम घटनाओं को समझने का प्रयास करना।

जब इन तीन गुणों को लेकर तुम काया के संदर्भ में काया पर ध्यान देते हो, तो मन निश्चित रूप से शांत और स्थिर हो जाता है, काया में बेहद आराम महसूस करते हुए वर्तमान में उपस्थित हो जाता है – यानी कि, समाधि। अब तुम साधना के दूसरे स्तर के लिए तैयार हो गए हो – उदय और व्यय की घटनाओं को जानना। इस स्तर पर तुम वर्तमान काल में कारण और परिणाम को समझने की कोशिश करोगे।

समाधि के स्तर पर, मन को स्थिर करने के बाद हम समाधि की प्रक्रिया में कारण और परिणाम को समझना चाहते हैं, ताकि हम समाधि में कुशल हो जाएं, ताकि मन को भिन्न-भिन्न प्रकार की परिस्थितियों में और लंबे समय तक, स्थिर रख पाएं। ऐसा करने के लिए, हमें सीखना होगा कि मन में घटनाएं कैसे उत्पन्न होती हैं और कैसे समाप्त, केवल उनको देख देखकर नहीं, बल्कि उनकी उत्पत्ति और समाप्ति में भाग लेकर।

ध्यान में अड़चनों से निपटने के निर्देश पढ़कर यह बात समझ आती है। पहले स्तर में बुद्ध कहते हैं कि अड़चनों के आवागमन के प्रति सचेत रहो। कुछ लोग मानते हैं कि यह एक “निर्विकल्प ध्यान” की साधना है, जिस में मन का कोई नियंत्रण करने की कोशिश नहीं की जाती, और जो कुछ भी चेतना में प्रवेश करता हो, उसे बस बैठ के देखा जाता है। असल में, इस स्तर पर मन ऐसी साधना के लिए तैयार ही नहीं है। वाकई में, इस स्तर पर एक स्थिर स्थान की ज़रूरत है जिसके आधार पर मन की घटनाओं का मूल्यांकन किया जा सके। उदाहरण के लिए, मान लो कि हम आकाश में बादलों की गति मापना चाहते हैं। हमें किसी स्थिर स्थान को चुनना होगा, जैसे कोई छत का कोना या बिजली का खंभा, जिसे हम देखते रहें, ताकि जान पाएं कि बादल किस दिशा में किस रफ़्तार से जा रहे हैं। बिल्कुल वैसे ही, मन में कामुक राग, द्वेष, आदि का आना-जाना होता रहता है। हमें एक स्थिर स्थान कायम रखना होगा, जैसे कि सांस पर ध्यान, अगर हम सचमुच जानना चाहते हैं कि कब मन में अड़चनें उपस्थित होकर सांस के ध्यान में बाधा डाल रही हैं, और कब नहीं।

मान लो कि क्रोध आकर तुम्हारी समाधि में दखल दे रहा है। क्रोध में घुसने के बजाय तुम केवल सचेत रह सकते हो, कि कब क्रोध मौजूद है और कब नहीं। क्रोध के आवागमन को सिर्फ़ एक घटना के स्तर पर जानो। मगर इतना ही नहीं। सांस पर ध्यान कायम रखते हुए, अगला कदम है यह समझना कि क्रोध को कैसे भंग किया जा सकता है। कभी-कभी केवल उसे देखना ही पर्याप्त होता है और वह पिघल जाता है, मगर कभी-कभी केवल देखना काफ़ी नहीं होता। उससे निपटने के लिए अन्य साधनों की जरूरत पड़ सकती है, जैसे कि क्रोध के पीछे के कारणों से तर्क-वितर्क करना, या क्रोध की हानि का स्मरण करना।

उससे निपटना हमेशा सुखद या आसान नहीं होगा – तुम्हें कठिन काम करने के लिए तैयार होना पड़ेगा। क्रोध किस कारण उत्पन्न हो रहा है, किस कारण समाप्त हो रहा है, और कैसे उसे दूर किया जाए, ये सब समझना होगा, क्योंकि तुम जानते हो कि क्रोध एक अकुशल मनोस्थिति है। ये सारे कार्य करने के लिए तुम्हें अलग-अलग प्रयोगों का प्रयास करना होगा। गर्व और बेसब्री को एक ओर रखके थोड़ी गलतियां करने कि जगह बनानी होगी। प्रयत्न करके अपनी गलतियों से सीखकर ही कुशलता प्राप्त होती है, और तुम क्रोध से निपटने में कुशलता ही तो चाहते हो। यहां क्रोध से घृणा करके उसे धकेलने, या क्रोध से प्रेम करके उसका स्वागत करने का सवाल नहीं। ऐसी तरकीबें शायद छोटी अवधि में परिणाम दे भी दें, वे लंबी अवधि में कुशल उपाय नहीं हैं। यहां उचित उपाय होगा यह पता लगाना कि क्रोध किन-किन अंशों से बना है, और इन्हें कैसे छिन्न-भिन्न किया जा सकता है।

जब क्रोध उपस्थित हो, और तुम्हें अन्य व्यक्तियों से बातचीत करने कि ज़रूरत न हो, तब एक प्रभावी तरकीब है बस खुद से बड़े स्नेहशील तरीके से पूछना, "अच्छा भई, तो गुस्से में क्यों हो?" अपने मन की बात को सुनो, और फिर आगे पूछो, "मगर *इस* बात पर गुस्से में क्यों हो?" "गुस्से में कैसे न होऊं? आखिरकार..." "अच्छा, मगर इस बात पर गुस्से में क्यों हो?" ऐसा करते-करते, अंत में मन कोई बेवकूफ-सी मूल बात बता ही देगा, जैसे कि यह मान्यता कि लोगों को अमुक तरह नहीं होना चाहिए, जब वे साफ़-साफ़ वैसे ही हैं, या कि लोगों को हमारे हिसाब से ही चलना चाहिए, या ऐसी कोई भी मान्यता इतनी फिजूल की कि मन उसे खुद से ही छुपाए बैठा है। पर अगर तुम कुरेदते जाओ, आखिरकार वह सच उगल ही देगा। ऐसा करने से तुम क्रोध को गहराई से समझना शुरू करोगे, और खुद पर उसकी शक्ति को काफ़ी हद तक घटाते जाओगे।

ऐसी ही प्रक्रिया से कुशल मानसिक स्थितियों को भी संभाला जाता है – जैसे स्मृति, शांति और समाधि। पहले तुम मन में उनकी उपस्थिति और अनुपस्थिति ज्ञात करते हो। फिर, बोध होता है कि अनुपस्थिति की तुलना में उनकी उपस्थिति कहीं ज़्यादा सुखद है। तो तुम समझने की कोशिश करते हो कि वे कैसे उत्पन्न होती हैं, कैसे बिखर जाती हैं। यह कैसे? तुम स्मृति और समाधि की स्थिति को स्थायी रखने के प्रयास से ऐसा करते हो। यह सारा खेल प्रेक्षक होने का है, यानी कि तेज़नज़र होने का, उन बातों पर ध्यान दे पाने का जिनके बारे में पहले बताया नहीं गया हो। अगर तुम सचमुच तेज़नज़र रहो, तो उस समाहित स्थिति को स्थायी रखने के कुशल ढंग पहचानने लगोगे। इस कार्य में सफलता या विफलता, दोनों से बिना घबराए, शांत चित्त हासिल करने में शांत चित्त की कामना को बाधा नहीं बनने दोगे। तुम बेशक सफलता चाहते हो, मगर सफलता और विफलता के प्रति एक संतुलित मनोभाव आवश्यक है, ताकि दोनों से सीख पाओ। कोई हिसाब नहीं रख रहा – हम अपनी समझ के लिए ही यह सब कर रहे हैं।

तो, ऐसे अपनी स्मृति को उपस्थित करना, या मन की घटनाओं के लिए एक संदर्भ स्थापित करना, "बस देखने" का कार्य नहीं है। बल्कि, उत्पाद और व्यय की प्रक्रिया में भाग लेने का कार्य है, प्रक्रिया के साथ सचमुच खेलने का कार्य है, ताकि अनुभव से सीख पाओ कि मन में कारण और परिणाम कैसे काम करता हैं।

यह ज्ञान बावर्ची के ज्ञान जैसा होता है। जैसे, तुम अण्डों के बारे में कुछ बातें तो उनको देखकर सीख सकते हैं, मगर बहुत कुछ नहीं। उनके बारे में सीखने के लिए उन्हें कड़ाही में

डालकर उनका कुछ बनाना होगा। बनाते बनाते, अण्डों के अलग-अलग प्रकार, उन्हें पकाने के अलग-अलग ढंग, तलकर या उबालकर कैसे बनते हैं, तापमान का क्या असर होता है, इत्यादि, यह सब समझ में आने लगता है। तो अण्डे के साथ वास्तव में काम करके, उसका कुछ बनाने की कोशिश करके ही तुम उसे समझ सकते हो। मिट्टी के साथ भी ऐसा ही होता है। तुम सच में मिट्टी को नहीं जानते जब तक कि कुम्हार न बनकर मिट्टी से कुछ बनाने की कोशिश नहीं करते।

और मन के साथ भी ऐसा ही होता है। जब तक कि तुम मन का कुछ बनाने का प्रयत्न नहीं करते, एक मनोस्थिति को शुरू करने और बरकरार रखने का प्रयत्न नहीं करते, तब तक अपने मन को जानते ही नहीं। मन में कारण और प्रभाव की प्रक्रिया को जानते ही नहीं। स्वयं प्रक्रिया में भाग लेने का कुछ आभास होना चाहिए। फिर ही समझ में आएगा।

यह सारी बातें बस तेज़नज़र होने और कौशल बढ़ाने पर आ जाती हैं। कौशल बढ़ाने का सार तीन बातों में आ जाता है। पहली बात – परिस्थिति जैसी है, उसे जानना। दूसरी बात – उसमें अपनी ओर से क्या डाला जा रहा है, उसे जानना। तीसरी बात – परिणाम को जांचना।

जब बुद्ध कारण और प्रभाव की प्रक्रिया की बात करते हैं, वे कहते हैं कि हर परिस्थिति दो प्रकार के कारणों से प्रभावित होती है – कारण जो अतीत में किए गए थे, और कारण जो हम वर्तमान में कर रहे हैं। तुम्हें दोनों के प्रति सजग रहना होगा। अगर तुम परिस्थिति में अपने योगदान के प्रति सचेत नहीं हो, तो कोई भी कौशल विकसित नहीं कर पाओगे। अपने योगदान के साथ-साथ, परिणाम पर भी ध्यान देना होगा। अगर कुछ गड़बड़ हो रही हो, वापस मुड़कर अपना कार्य बदलना होगा, जब तक कि इच्छित फल प्राप्त न हो जाए। और ऐसा करते-करते, तुम पदार्थ से खूब सीखोगे, चाहे वह मिट्टी हो या अण्डे, या जो कुछ भी जिस में कुशलता बढ़ाने का प्रयास कर रहे हो।

यह बात मन पर भी लागू होती है। ज़ाहिर है, मन को किसी भी तरह की स्थिति में लाने के प्रयास से तुम कुछ न कुछ तो सीखोगे ही, मगर सचमुच तीक्ष्ण बोध के लिए एक स्थिर, संतुलित, स्मृति युक्त, सजग समाधि की स्थिति सर्वोत्तम उपाय है। मन के स्थिर हो जाने पर जो आनंद और सुख मिलता है, उनके ज़रिए मन आराम से वर्तमान क्षण में स्थायी रह पाता है। जब मन पक्के रूप से स्थिर हो जाए, तब उसका लंबे समय तक निरीक्षण करना संभव हो जाता है। इससे, हर घटना को गौर से जाना जा सकता है, कि वह किन-किन तत्वों से बनी है। साधारण, असंतुलित मानसिक स्थिति में घटनाएं इतनी तेज़ी से उत्पन्न और समाप्त होती हैं कि उन्हें स्पष्ट रूप से देखा नहीं जा सकता। मगर जैसे बुद्ध कहते हैं, यदि तुम झान/ध्यान में कुशलता प्राप्त कर लेते हो, तो थोड़ा पीछे हटकर मन को देख सकते हो कि वाकई में हो क्या रहा है। जैसे, तुम देख सकते हो कि कहां कोई आसक्ति का तत्व है, कहां दुख का, यहां तक कि अपनी संतुलित मनोस्थिति में भी कहां कोई अस्थिरता का तत्व है। अब बोध होना शुरू हो जाता है, जब मन के अलग-अलग तत्वों के बीच की प्राकृतिक सीमाएं स्पष्ट होने लगती हैं, खास तौर पर, चेतना और उसके विषयों के बीच की सीमा।

इस सजग, स्थिर, समाहित स्थिति का एक और लाभ है। इसमें मन को बार-बार स्थित करके जैसे-जैसे यही स्थिति सुखदायी, सुरक्षित, सही और प्रिय लगने लगती है, वैसे-वैसे एहसास होने लगता है कि सुख, शांति, यहां तक कि आनंद भी अपने भीतर ही उपलब्ध हैं।

इन्हें पाने के लिए बाहरी दुनिया से कुछ भी नहीं चाहिए – अन्य लोग, संबंध, दूसरों की स्वीकृति, या ऐसी कोई भी बात जो बाहरी दुनिया पर निर्भर हो। इस बोध के आधार पर बाहरी आसक्तियां छूटने लगती हैं। कुछ लोग शांत मनोस्थिति से आसक्ति करने से डरते हैं, पर वास्तव में, यहां आसक्त होना बहुत ज़रूरी है, ताकि मन ठहरने लग जाए और बाकी आसक्तियों को त्यागने का काम शुरू कर पाए। जब मात्र इस शांति के प्रति आसक्ति ही रह जाए, तभी इसे त्यागने का प्रयास शुरू करना चाहिए।

प्रज्ञा जगाने में सबल समाधि की आवश्यकता एक और कारण से स्पष्ट होती है। प्रज्ञा की मूलभूत सीख होती है तुम्हें अपनी ही मूर्खता दिखाना। तुम उन बातों को पकड़े बैठे हो जो, अंदर ही अंदर, तुम जानते हो कि व्यर्थ हैं। अब, किसी भूखे, थके हुए व्यक्ति को ऐसा कहकर देखो। फट से जवाब मिलेगा, “मूर्ख होगे तुम!” बात इधर ही समाप्त हो जाएगी और कुछ हासिल नहीं होगा। मगर यदि कोई भर-पेट भोजन और विश्राम कर चुका हो, तो उसके साथ किसी भी विषय पर, बिना डरे चर्चा की जा सकती है। मन के साथ भी ऐसा ही होता है। जब ध्यान-जनित सुख और आनंद से वह भरपूर पोषित हो जाए, तब सीखने के लिए तैयार हो जाता है। फिर वह बिना खतरा महसूस किए, अपनी गुण-दोष की आलोचना स्वीकार करने के लिए राजी हो जाता है।

तो। समाधि साधना का स्मृति उपस्थान के दूसरे स्तर में यही पात्र है। यह तुम्हें कुछ खेलने के लिए देती है जिसके जरिए तुम कौशल विकसित कर सको, ताकि मन में कारण-प्रभाव की प्रक्रियाओं को समझना शुरू कर सको। तुम्हें दिखना शुरू हो जाता है कि मन सिर्फ कारणों का प्रवाह है, जिनके नतीजे मुड़कर तुम पर ही असर करते हैं। तुम्हारे विचार, तुम्हारी भावनाएं, यहां तक कि तुम्हारी अपनी पहचान का अहसास भी इस प्रवाह में शामिल है। इस बोध के ज़रिए, इस पूरी प्रक्रिया के प्रति आसक्ति ढीली होने लगती है।

अंत में, मन स्मृति उपस्थान के तीसरे स्तर पर पहुंचता है – एक उत्तम संतुलन की स्थिति, जहां समाधि को इस हद तक विकसित कर लिया है कि इसमें और कुछ करने को बाकी नहीं है। स्मृति उपस्थान सूत्र में इस स्तर का वर्णन केवल ऐसे किया गया है – यदि शरीर को अपना आधारभूत संदर्भ माना हो, तो बस इतना जानते रहना कि “शरीर है,” स्मृति और ज्ञान को उपस्थित करने के लिए, दुनिया की हर चीज़ से अनासक्त रहकर। दूसरे सूत्रों में इस स्थिति को कहा गया है “अनिर्माण,” पाली में “अतम्मयता = अ+तम्+मय+ता” यानी “नहीं-उसका-बना-हुआ-ता।” इस मनोस्थिति में समझ आने लगता है कि मन में हर प्रकार की प्रक्रिया – यहां तक कि समाधि और प्रज्ञा भी – चिपचिपे लेप के जाल जैसी होती हैं। उन्हें अपने पास खींचते हो तो अटक जाते हो, उन्हें दूर धकेलते हो तो अटक जाते हो। तो अब क्या किया जाए? उस अवस्था तक पहुंचना होगा जहां वर्तमान क्षण में अपनी ओर से तुम कुछ भी नहीं डालो। उसमें अपनी भागीदारी को समाप्त होने देना होगा। फिर मन में कुछ खुल जाता है।

अक्सर लोग इसी स्तर से प्रारंभ करना चाहते हैं – शुरू में ही वर्तमान में कुछ न डालने का प्रयास करते हैं, मगर यह काम नहीं करता। मन अपनी आदत से वर्तमान में जो सूक्ष्म कार्य करता आ रहा है, उनके प्रति संवेदनशील होना तभी संभव होगा जब तुम जानबूझकर अपने वर्तमान कार्यों को बदलने की कोशिश करोगे। कुशलता प्राप्त करते करते, तुम उन सूक्ष्म कार्यों के प्रति संवेदनशील होने लगते हो, जिनका तुम्हें एहसास भी नहीं था। चित्त एक मोहभंग की

स्थिति में पहुंचता है। पता चलता है कि वर्तमान से निपटने का सबसे कुशल ढंग होगा उसमें पूरी तरह से अपनी सूक्ष्म-से-सूक्ष्म, अशांति-जनक भागीदारी भी समाप्त होने देना। साधना के दूसरे स्तर में जो कुछ भी करने को सीखा था, अब तुम उसका भी विखंडन करना शुरू कर देता हो, जब तक कि संतुलन अपने आप न आ जाए, मन सब कुछ न त्याग दे, और विमुक्ति को उपलब्ध न हो जाए।

तो यह समझना ज़रूरी है कि स्मृति उपस्थान साधना के तीन स्तर होते हैं, और समाधि का इनमें क्या पात्र है – पहले दो स्तरों में तुम्हारा कौशल बढ़ाकर, तुम्हें तीसरे स्तर तक पहुंचाना। यदि सम्यक समाधि (झान) को अंतरिम लक्ष्य नहीं लिया, तो तुम मन को समझने के लिए आवश्यक कौशल विकसित नहीं कर पाओगे, क्योंकि सजग समाधि में निपुणता प्राप्त करने में ही सच्चा बोध मिलता है। जैसे तुम किसी पशु के झुण्ड को सच में नहीं समझते जब तक कि पशुओं को खुद न चराओ, हर कदम अपनी भूलों से सीखते-सीखते, वैसे ही, मन से गुजरती सभी कारण-और-प्रभाव की धाराओं को तुम नहीं समझते, जब तक कि उन्हें समाहित, सजग, और स्मृति-युक्त समाधि में एकाग्र नहीं करते, हर कदम अपनी भूलों और सफलताओं से सीखते सीखते। कौन सी हैं ये धाराएं? तृष्णा की धाराएं, जिनसे दुख पैदा होता है, और स्मृति और समाधि की धाराएं, जिनसे दुख समाप्ति का मार्ग बनता है। केवल इन धाराओं को पूरी तरह से समझकर, इनमें पूरी तरह से निपुण होकर तुम इन्हें त्याग कर सच्ची मुक्ति पा सकते हो।

# *अनेक उपकरणों में से एक उपकरण*

*साधना में विपश्यना की भूमिका*

विपश्यना वास्तव में होती क्या है?

प्राचीन बौद्ध साधना पर लगभग सभी वर्णन कहते हैं कि बुद्ध ने दो प्रकार की साधनाएं सिखाईं थीं – शमथ और विपश्यना। "शमथ" का अर्थ है "शांति," और सुनने में आता है कि यह गहरी और शक्तिशाली समाधि ("झान") लगाने का प्रयोग है। विपश्यना का मूल अर्थ है "विषेश रूप से देखना।" इसे हम एक दूसरी ध्यान विधि के नाम से जानते हैं, और सुनने में आता है कि यह थोड़ी-सी समाधि का उपयोग करके, क्षण-प्रति-क्षण होती घटनाओं की अनित्यता को अनुभूति के स्तर पर जानने का प्रयोग है। इस प्रयोग से घटनाओं के प्रति वैराग्य जागता है, जिसके ज़रिए मन सभी दुखों से मुक्ति पा लेता है। कहते हैं कि ये दोनों प्रयोग काफ़ी अलग हैं, और अध्यात्म के क्षेत्र में, विपश्यना ही भगवान बुद्ध का खास योगदान रहा है। बुद्ध से पहले भी लोग शमथ जानते थे, मगर बुद्ध ने विपश्यना खोज निकाली। बेशक कोई साधक शमथ की साधना विपश्यना करने से पहले करते भी होंगे, बोधि के लिए असल में शमथ आवश्यक नहीं। बोधि और प्रज्ञा के लिए विपश्यना पर्याप्त है।

ऐसा तो सुनने में आता है। मगर यह किस हद तक सही है?

यदि हम पाली सूत्रों में देखें, तो हालांकि वे शमथ का अर्थ "शांति" और विपश्यना का अर्थ "स्पष्ट दृष्टि" ही लेते हैं, इनके बारे में बाकी किसी भी प्रचलित मान्यता की पुष्टि नहीं करते। सूत्रों में "विपश्यना" शब्द भी अल्प मात्रा में मौजूद है, जबकि "झान" शब्द बार-बार दिखाई देता है। भगवान बुद्ध हमेशा कहते हैं कि "जाओ झान करो" अर्थात "जाओ ध्यान करो," और ऐसा कभी नहीं कि "जाओ विपश्यना करो।" जब वे "विपश्यना" शब्द का उपयोग करते हैं, तब वे किसी ध्यान प्रयोग के बारे में बात नहीं कर रहे। "विपश्यना" का उल्लेख "शमथ" के साथ ही किया जाता है, जहां ये शब्द अलग-अलग ध्यान विधियों के नाम नहीं, बल्कि दो प्रकार के मानसिक गुण हैं, जिन्हें साधक प्राप्त कर सकता है, और जिन्हें इकट्ठे ही विकसित किया जाना चाहिए।

एक उपमा में (संयुक्त निकाय 35:204), विपश्यना और शमथ की तुलना दो राजदूतों के साथ की गई है, जो शरीर के नगर में आर्य अष्टांगिक मार्ग से प्रवेश करते हैं और अपने सही संदेश, यानी कि निर्वाण, नगर के प्रधान, यानी कि चेतना, को पेश करते हैं।

एक और सूत्र, अंगुत्तर निकाय 10:71, कहता है कि, जो व्यक्ति मानसिक विकार समाप्त करना चाहे, उसे शील में परिपूर्ण, एकांत पर समर्पित, शमथ पर दृढ़, और विपश्यना में संपन्न होना चाहिए। यह बात मामूली-सी लग सकती है, मगर उसी सूत्र में यही सलाह उन्हें दी जाती है जो चार झानों में निपुणता चाहते हैं – उन्हें भी शमथ पर दृढ़ और विपश्यना में संपन्न होना चाहिए। इससे प्रतीत होता है कि सूत्रों का संकलन करने वालों के अनुसार, शमथ, झान और विपश्यना एक ही मार्ग के अंग हैं। झान में कुशलता प्राप्त करने के लिए दोनों शमथ और विपश्यना की आवश्यकता है, और फिर झान के आधार पर शमथ और विपश्यना को और भी

विकसित किया जाता है, ताकि वे मन के विकार समाप्त कर दें और उसे दुख से मुक्त कर सकें। ऐसा तात्पर्य अन्य सूत्रों से भी प्रतीत होता है।

उदाहरण के लिए एक और सूत्र – अंगुत्तर निकाय 4:170, तीन प्रकार के रास्तों का वर्णन करता है जहां शमथ और विपश्यना मिलकर काम करते हैं और बोधि के ज्ञान तक ले जाते हैं। या तो विपश्यना से पहले शमथ विकसित की जाती है, या शमथ से पहले विपश्यना, या दोनों इकट्ठे बढ़ाए जाते हैं। वर्णन में "बैल गाड़ी" के संकेत का प्रयोग किया गया है – दो बैल अगर गाड़ी खींच रहे हैं, या तो एक-के-पीछे एक बांधा जाएगा, या दोनों साथ-साथ। एक और सूत्र, अंगुत्तर निकाय 4:94 में बताया गया है कि यदि विपश्यना शमथ से ज्यादा बलवान हो जाए, या शमथ विपश्यना से, तो साधना असंतुलित है और उसे सुधारने की आवश्यकता है। ऐसा साधक जिसने थोड़ी शमथ प्राप्त कर ली है, मगर "उच्च प्रज्ञा के आधार पर घटनाओं में विपश्यना" ("अधिपञ्ञा-धम्म-विपस्सना") नहीं, तो उसे विपश्यना में कुशल किसी सहब्रह्मचारी से पूछना चाहिए – "संस्कारों (मन के इरादों, कर्मों, घटनाओं – मन में जोड़ने और बनाने की क्रियाओं) को कैसे समझना चाहिए? उनकी जांच कैसे करनी चाहिए? उन्हें स्पष्ट रूप से कैसे देखना चाहिए?" और फिर उस व्यक्ति की सलाह अनुसार विपश्यना बढ़ानी चाहिए। इन प्रश्नों के क्रिया शब्द – "समझना," "जांच करना," "देखना" – इनसे पता चलता है कि विपश्यना बढ़ाने के लिए केवल कोई ध्यान विधि पर्याप्त नहीं। वास्तव में, हम देखेंगे कि ये क्रियाएं हमें खुद से एक कुशल प्रकार की पूछताछ करने में सहायता करती हैं, जिसे कहते हैं "उचित (विषय पर) ध्यान देना" (पाली में "योनिसो मनसिकार" = मन का उचित कार्य)।

विपरीत स्थिति, जहां साधक को घटनाओं में थोड़ी सी प्रज्ञा आधारित विपश्यना प्राप्त हो गई, मगर शमथ नहीं। यहां उसे शमथ में कुशल व्यक्ति से पूछना चाहिए – "मन को स्थिर कैसे किया जाए? स्थापित कैसे किया जाए? एकाग्र कैसे किया जाए? समाहित कैसे किया जाए?" और फिर उस व्यक्ति की सलाह अनुसार शमथ बढ़ानी चाहिए। यहां जिन क्रियाओं का उपयोग किया है, उनसे प्रतीत होता है कि "शमथ" का इस संदर्भ में अर्थ है "झान," क्योंकि ये वही क्रियाएं हैं जिनसे अन्य सूत्रों में बार-बार झान की व्याख्या की गई है – "मन स्थिर हो जाता है, स्थापित हो जाता है, एकाग्र और समाहित हो जाता है।" इस बात की पुष्टि एक और बात से होती है। एक प्रश्न कभी-कभी उठता है – मुक्ति के लिए जिस प्रज्ञा की ज़रूरत है, उस प्रज्ञा को जगाने के लिए कितनी समाधि पर्याप्त होती है? सूत्रों में जब भी इस प्रश्न का स्पष्ट उत्तर दिया गया है, वे कहते हैं कि समाधि का वह पर्याप्त स्तर झान ही है।

जब साधक दोनों शमथ और विपश्यना में कुछ हद तक कुशल हो जाए, तब उसे "इन कुशल मानसिक गुणों को आश्रवों के क्षय के लिए और विकसित करने की मेहनत करनी चाहिए।" ("आश्रव" का मतलब मन से अकुशलता की "बहती धाराएं" जिनके कारण पुनर्जन्म होता है। तीन प्रकार के आश्रव होते हैं – कामुक राग का आश्रव, भव का आश्रव, यानी कि किसी दुनिया के अनुभव में कोई व्यक्तित्व ग्रहण करने की इच्छा, और अविद्या का आश्रव, यानी कि चार आर्य सत्यों के बजाय किसी अन्य धारणा से अस्तित्व को देखना)। यहां उस स्थिति की व्याख्या हो रही है जहां शमथ और विपश्यना इकट्ठे बढ़ रहे हैं। मज्झिम निकाय 149 में बताया गया है कैसे। छः इंद्रियों (मन को छठी इन्द्रिय मानकर), उनके विषयों, प्रत्येक इंद्रिय की चेतना, प्रत्येक इन्द्रिय पर विषय का स्पर्श, और जो भी इस स्पर्श के कारण उत्पन्न हो, सुखद, दुखद, या

अदुखसुखद (न दुखद न सुखद) अनुभव, ये सारी बातें जैसे वास्तव में हैं, वैसे ही उनको देखना और जानना। इन सारी घटनाओं से निर्लिप्त रहकर ध्यान बनाए रखना – अनासक्त, आत्मविश्वास के साथ, उनकी कमियों पर ध्यान रखते हुए, उनके प्रति तृष्णा को त्यागना – इसे विपश्यना माना जाएगा। साथ ही, शारीरिक और मानसिक पीड़ाओं और मुसीबतों को छोड़कर, सुख-शांति का अनुभव करना – इसे शमथ माना जाएगा। इस प्रकार, यह साधना दोनों विपश्यना और शमथ को इकट्ठे विकसित करने के साथ सारे ३७ "बोधि-पंख धर्मों/लक्षणों" को पूरा करती है, जिनमें ज्ञान की प्राप्ति भी शामिल है।

तो सही मार्ग वैसा है जिसमें विपश्यना और शमथ को संतुलन में लाया जाए, जहां ये दोनों गुण एक दूसरे के सहायक और निदर्शक बन जाएं। विपश्यना के कारण, शमथ की स्थिरता और शांति भ्रमित, आलसी, तंद्रिल, धुंधली नहीं हो जाती। शमथ के कारण, साधना में द्वेष का आविर्भाव नहीं आता, जो मन को जबरदस्ती से वर्तमान में दबाए रखने पर आ सकता है, जैसे कि उल्टी आना या चक्कर आना, घबराहट, भय, या पूरी बेहोशी भी।

इस व्याख्या से ज़ाहिर है कि शमथ और विपश्यना दो अलग-अलग ध्यान विधियां नहीं, बल्कि वर्तमान क्षण पर ध्यान देने के दो पहलू हैं, जो एक दूसरे की पूर्ति करते हैं। शमथ से वर्तमान क्षण में एक सुखद निवास मिलता है। विपश्यना से वर्तमान की घटनाओं का स्पष्ट दर्शन होता है, जैसे वे, अपने संदर्भ में ही, सचमुच हो रही हैं। यह भी ज़ाहिर है कि ज्ञान में कुशलता प्राप्त करने हेतु दोनों गुणों को इकट्ठे काम क्यों करना होगा। जैसे कि आनापानसति (मज्झिम निकाय 118) के निर्देश बताते हैं, इस कौशल में हैं शामिल तीन बातें – मन को मुदित करना, समाहित करना, और विमोचित करना यानी कि मुक्त करना। मुदित करने का मतलब वर्तमान में सुख और आनंद महसूस करना। समाहित करने का मतलब मन को ध्यान के विषय पर स्थिर रखना। और विमोचित करने का मतलब मन को स्थूल समाधि की स्थिति से सूक्ष्म की ओर ले जाने में जो प्रक्रियाएं छोड़नी होती हैं, उनसे छुटकारा पाना। ये पहली दो क्रियाएं शमथ के कार्य हैं, और तीसरी विपश्यना का। तीनों को साथ मिलकर काम करना होगा। अगर मन को केवल मुदित और समाहित किया जाए, बिना कुछ त्याग किए, तो मन अपनी समाधि का शोधन ही नहीं कर पाएगा। ऐसा इसलिए क्योंकि जो प्रक्रियाएं मन को समाधि के किसी एक स्तर तक पहुंचातीं हैं, उन्हें ही त्यागने पर मन उससे गहरे स्तर तक पहुंच सकता है (अंगुत्तर निकाय 9:34)। मन को बिल्कुल उन्हीं प्रक्रियाओं से मुक्त करना, जो समाधि के निचले स्तर को कायम रखतीं हैं, मगर उच्च स्तर के लिए बाधा बन जाती हैं – ऐसा कुशलतापूर्वक करने का एक ही उपाय है, और वह है वर्तमान में मानसिक घटनाओं का स्पष्ट निरीक्षण करना। वहीं दूसरी ओर, अगर केवल उन प्रक्रियाओं को त्यागने का प्रयास किया, बिना पहचाने कि त्यागने पर मन की स्थिरता और शांति कैसे गहरी हो जाती है, तो मन समाधि से बाहर ही निकल जाएगा। इसीलिए सम्यक समाधि में कुशलता प्राप्त करने के लिए शमथ और विपश्यना को साथ-साथ काम करना होगा।

फिर प्रश्न उठता है – अगर ज्ञान में कुशलता प्राप्त करने के लिए शमथ के साथ-साथ विपश्यना का भी पात्र है, और ज्ञान केवल बौद्धों की साधना नहीं, तो फिर विपश्यना कैसे केवल बौद्धों की हुई? उत्तर यह है कि विपश्यना भी केवल बौद्धों की नहीं है। शमथ और विपश्यना में खास तौर पर बौद्ध योगदान ये हैं – १) जिस हद तक दोनों को विकसित किया गया, २) उनके

विकसित करने का मार्ग, यानी कि, किन प्रकार के प्रश्नों द्वारा उन्हें बढ़ाया गया, और ३) मन को पूर्ण मुक्ति लाने के लिए कैसे उनका भिन्न-भिन्न साधना प्रयोगों के साथ उपयोग किया गया।

मज्झिम निकाय 73 में बुद्ध एक ऐसे भिक्षु को निर्देश देते हैं जो ज्ञान में सम्पन्न हो चुका है। वे उसे शमथ और विपश्यना को और विकसित करने की सलाह देते हैं ताकि वह छः चैतसिक कौशलों में संपन्नता प्राप्त कर पाए, जिनमें सबसे महत्वपूर्ण है: "मानसिक आश्रवों की समाप्ति से वह आश्रव-रहित चित्त-विमुक्ति और प्रज्ञा-विमुक्ति में निवास करता है, स्वयं उन्हें अस्तित्व में लाकर और जानकर, अभी और यहीं।" यह बौद्ध धर्म के अंतिम लक्ष्य की व्याख्या है। कुछ लेखकों के मुताबिक यह केवल विपश्यना का फल है, मगर कुछ सूत्र ऐसे हैं जिनसे बात अलग मालूम पड़ती है।

पहले देखो कि मुक्ति के दो अंग हैं – चित्त-विमुक्ति और प्रज्ञा-विमुक्ति। चित्त-विमुक्ति तब होती है जब साधक राग के प्रति पूरी तरह से वैरागी हो जाता है। यह शमथ का अंतिम फल है। प्रज्ञा-विमुक्ति तब होती है जब अविद्या के प्रति वैराग्य जागता है। यह विपश्यना का अंतिम फल है (अंगुत्तर निकाय 2:29-30)। इस प्रकार, दोनों शमथ और विपश्यना इस दो-अंग वाली विमुक्ति में भाग लेते हैं।

"सब्बासव सुत्त" (मज्झिम निकाय 2) में कहा है कि मुक्ति "आश्रव-रहित" तभी होती है जब साधक "उचित तरह से ध्यान देता है" (योनिसो मनसिकार)। सूत्र में जैसे समझाया गया है, उचित तरह से ध्यान देने का मतलब घटनाओं के बारे में उचित प्रश्न उठाना – स्वयं/अन्य या अस्तित्व/अस्तित्वहीनता के संदर्भ में नहीं, बल्कि चार आर्य सत्यों के संदर्भ में। यानी कि, "क्या मैं हूँ? क्या नहीं हूँ? मैं क्या हूँ?" पूछे बगैर, किसी अनुभव के बारे में पूछना, "क्या यह दुख है? दुख का कारण है? दुख की समाप्ति है? दुख समाप्ति का मार्ग है?" चूँकि चारों वर्गों के साथ संबंधित कर्तव्य हैं, ये प्रश्न उत्तर के रूप में कार्रवाई मांगते हैं – दुख को समझना चाहिए, उसके कारण को त्यागना चाहिए, उसकी समाप्ति का साक्षात्कार करना चाहिए, और उसकी समाप्ति के मार्ग को विकसित करना चाहिए।

शमथ और विपश्यना मार्ग के वर्ग में शामिल हैं, तो उन्हें विकसित करना चाहिए। यह करने के लिए, हमें दुख को समझने के कार्य पर उचित ध्यान देना पड़ेगा – दुख को "पांच आसक्ति के स्कंधों" के स्तर पर समझना होगा। यह स्कंध हैं रूप (शरीर), संवेदना, संज्ञा (किसी घटना को नाम देने या पहचानने की क्रिया), संस्कार (मानस और शरीर की घटनाओं को जोड़ने की क्रिया, जैसे कि विचारों की उत्पत्ति), और चैतन्य (इंद्रियों पर होने वाली घटनाओं को जानने की क्रिया – पाली में "विञ्ञाण")। इन स्कंधों पर उचित ध्यान देने का मतलब इनकी कमियों पर ध्यान देना – देखना कि ये हैं "अनित्य, दुखदायक, एक रोग, एक फोड़ा, एक तीर, बुरे, एक पीड़ा, पराए, एक विघटन, शून्य, अनात्मीय" (संयुक्त निकाय 22:122)। इस कार्य को पूरा करने में बुद्ध की एक खास प्रश्न सूची है – "यह स्कंध नित्य है के अनित्य?" "और जो अनित्य है वह सुखदायक होता है के दुखदायक?" "और जो अनित्य है, दुखदायक है, परिवर्तनशील है, क्या उसके बारे में ऐसा मानना उचित है कि "यह मेरा है, यह मैं हूँ, यह मेरी आत्मा है।"?" (संयुक्त निकाय 22:59)। पांचों स्कंधों के हर उदाहरण पर ये प्रश्न पूछे जाते हैं, चाहे जैसे भी प्रकट हों, "अतीत, वर्तमान या भविष्य के, आंतरिक या बाहरी, स्थूल या सूक्ष्म, साधारण या उत्कृष्ट, पास या दूर।" यानी कि, साधक अपने छौं इंद्रियों के लोक में हर अनुभव के बारे में ये प्रश्न पूछता है।

यह प्रश्न सूची एक खास प्रकार के ज्ञान तक पहुंचाने वाली रणनीति में शामिल है। उस ज्ञान को कहते हैं "जैसे (घटना) हो गई है, वैसे उसे देखना और जानना" ("यथा भूत ञाण दस्सन")। इसमें, घटनाओं को पांच स्तरों के माध्यम से जाना जाता है – उनका उदय, उनका व्यय, उनका आकर्षण, उनकी कमियां, और उनसे छुटकारा – जो यहां मिलता है वैराग्य से।

कुछ लेखकों के मुताबिक, ये पांच स्तरों वाली दृष्टि केवल पहले दो स्तरों पर ध्यान देने से हासिल हो सकती है। वर्तमान में स्कंधों के उदय और व्यय पर ध्यान को निरंतरता से रखने पर, उनका मानना है, स्वाभाविक रूप से आकर्षण, कमियां और छुटकारे का ज्ञान हो जाएगा, पूर्ण विमुक्ति के लिए पर्याप्त। मगर सूत्र इस बात की पुष्टि नहीं करते, और व्यावहारिक अनुभव से भी यह बात सही नहीं लगती। जैसे कि मज्झिम निकाय 101 में कहा गया है, हर साधक पाएगा कि, स्थिति के हिसाब से, कभी केवल समता से देखकर वह दुख के किसी कारण के प्रति वैराग्य जगा लेगा, मगर कभी उसे वैराग्य जगाने के लिए जानबूझकर प्रयत्न करना पड़ेगा, जिससे छुटकारा मिल पाए। किस स्थिति में कौन-सी तरकीब काम करेगी, इसके बारे में सूत्र अस्पष्ट है, शायद जानबूझकर। यह एक ऐसी बात है जो प्रत्येक साधक को स्वयं अपने अनुभव से जाननी पड़ेगी।

सब्बासव सुत्त इस बात को और विस्तार से समझाता है। उसमें वैराग्य जगाने के लिए सात प्रकार के प्रयोगों की व्याख्या की गई है। विपश्यना, मानसिक गुण के तौर पर, सातों से संबंधित है, मगर सबसे स्पष्ट रूप से पहले प्रयोग के साथ – "देखना" – यानी, हर घटना को चार आर्य सत्यों और उनसे संबंधित कर्तव्यों के संदर्भ में देखना। बाकी के छः प्रयोग इन कर्तव्यों को पूरा करने में सहायक बनते हैं। वे हैं – अकुशल मनोस्थिति पैदा करने वाले इंद्रियों के वस्तुओं से मन का संयम करना; भोजन, कपड़ा, घर और दवा – इन चार आवश्यकताओं के उपयोग के उचित कारणों पर चिंतन करना; दुखद संवेदनाओं को सहना; प्रत्यक्ष खतरों और अनुचित साथियों से दूर रहना; कामुक इच्छा, दुर्भावना, हिंसकता, और अन्य अकुशल गुणों को नष्ट करना; और सात बोधि के अंगों को विकसित करना – यानी कि, स्मृति, मानसिक गुणों का विश्लेषण, परिश्रम, प्रीति, शांति, समाधि, और समता।

प्रत्येक प्रयोग में कई तरीके शामिल हैं। जैसे "नष्ट करने" वक्त हम किसी अकुशल मनोस्थिति को पांच तरीकों से हटा सकते हैं – उसकी जगह एक कुशल मनोस्थिति स्थापित करके, उसकी कमियों के बारे में सोच के, उस पर से ध्यान हटा के, उसे जगाने वाले विचार-संस्कारों को शांत करके, या बस अपनी इच्छा शक्ति से उसका दमन करके (मज्झिम निकाय 20)। अन्य सूत्रों में से कई ऐसे उदाहरण ढूंढे जा सकते हैं। मूल बात यह है कि मन के तौर-तरीके जटिल और विभिन्न हैं। अलग-अलग किस्म के आश्रव अलग-अलग रूप धारण करके उमड़-उमड़ के आ सकते हैं, जिनसे अलग-अलग प्रयोगों द्वारा निपटना होगा। एक साधक का कौशल यही है कि वह भिन्न-भिन्न तरीकों में निपुणता प्राप्त कर ले, और अपनी संवेदनशीलता विकसित कर ले, ताकि जान सके कब कौन-सा तरीका काम करेगा।

मगर इस सब से पहले हमें इन कौशलों को सीखने की ही प्रेरणा जगानी होगी और तीव्र रखनी होगी। आम तौर पर चिंतन के जो मूलभूत वर्ग हैं, जो सोचने के लिए इतने बुनियादी होते हैं – जैसे कि "अस्तित्व होना/न होना" या "मैं/अन्य" – उचित तरह से ध्यान देने के लिए इन्हें ही छोड़ना पड़ता है। इसीलिए, साधक को उचित विषय पर ध्यान देने के कार्य को अपनाने के

लिए बड़े तगड़े कारण चाहिए होते हैं। सब्बासव सुत्त में कहा गया है कि जो भी उचित विषय पर ध्यान देना सीखना चाहे, उसे सबसे पहले आर्य लोगों को श्रेष्ठ मानना होगा, यानी कि भगवान बुद्ध और उनके जागृत शिष्यों को। मतलब यह कि, जो इस मार्ग पर चले हैं, उन्हें सचमुच सर्वोत्तम मानना। उनके शिक्षण और अनुशासन में शिक्षित भी होना होगा। मज्झिम निकाय 118 के हिसाब से, इसका मतलब यह कि उनकी कर्म और पुनर्जन्म पर शिक्षा का विश्वास करना होगा, जिससे चार आर्य सत्यों को अनुभव के मूलभूत वर्गों के रूप में अपनाने की दार्शनिक और भावनात्मक प्रेरणा मिलती है। उनके अनुशासन में शिक्षित होने में शामिल हैं, शील का पालन करना, और आश्रव समाप्ति के उल्लिखित सात प्रयोगों में कुछ कौशल बनाए रखना।

इस प्रकार की तैयारी के बिना साधक वर्तमान में उदय-व्यय देखने की साधना में गलत तरह के दृष्टिकोण, मनोभाव, और अपेक्षाएं लेकर आ सकता है, जिस कारण वह गलत प्रश्न पूछने लगेगा। जैसे कि अगर कोई अपनी “सच्ची आत्मा” की खोज में हो, तो वह, जानबूझकर या नहीं, समाधि में किसी विशाल, खुली हुई मनोस्थिति से आसक्ति पैदा कर सकता है, जो हर बदलाव स्वीकार करती लगती हो, और जिसमें ऐसा लगे कि सब समा जाता है। या अगर साधक पूरे ब्रह्मांड से संयुक्त होने का आभास चाहता हो, यह मानते हुए कि कुछ भी नित्य या ध्रुव ढूंढना जीवन-नकारात्मक बावलापन है, क्योंकि आखिरकार सब तो बदलता ही जाता है।

ऐसी कामनाएँ रखने वाले व्यक्ति को केवल वर्तमान में घटनाओं के उत्पाद-व्यय के अनुभव से पांच स्तरों वाला “यथा भूत” ज्ञान नहीं मिलेगा। वह अपने खयालों को “दृष्टियों के आश्रव (प्रवाह)” या समाधि की शांत मानसिक स्थिति को “भव (होने) के आश्रव (प्रवाह)” के रूप में देखने से कतराएगा। नतीजतन, वह इन अनुभवों पर चार आर्य सत्यों को लागू करना नहीं चाहेगा। सिर्फ़ एक ऐसा व्यक्ति जो इन आश्रवों को आश्रव के रूप में देखने के लिए तैयार हो, और ऐसी दृष्टि रखने की ज़रूरत समझता हो, वही उचित ध्यान देने के लिए, और आश्रवों से छुटकारा पाने के लिए योग्य होगा।

तो, अपने प्रारंभिक प्रश्न पर लौटते हुए – विपश्यना किसी साधना विधि का नाम नहीं, बल्कि एक मानसिक गुण का नाम है, जिसका अर्थ है वर्तमान में हो रही घटनाओं को स्पष्ट रूप से देखने का कौशल। स्मृति और सजगता विपश्यना के लिए बेशक सहायक हैं, मगर केवल उनके सहारे पूर्ण विमुक्ति लाने वाली विपश्यना का विकास नहीं हो सकता। अन्य प्रयोगों और तरीकों की ज़रूरत होती है। विशेष रूप से, विपश्यना के साथ शमथ की ज़रूरत है, जिसका अर्थ है वर्तमान में शांत और सुखद रूप से मन को स्थिर करने का कौशल, ताकि साधक झान, यानी तीव्र समाधि की अवस्था में निपुण हो जाए। फिर वह इस निपुणता के आधार पर शमथ और विपश्यना का उपयोग करता है और अपने पूरे अनुभव के बारे में कुशल रूप से पूछताछ करता है, जिसे कहते हैं उचित विषयों पर ध्यान देना। इसमें घटनाओं का विश्लेषण “मैं/अन्य” या “अस्तित्व है/अस्तित्व नहीं है” के संदर्भ में नहीं किया जाता, बल्कि चार आर्य सत्यों के संदर्भ में किया जाता है, जबतक कि हर घटना का पांच अंगों वाला ज्ञान न मिल जाए – उत्पाद, व्यय, आकर्षण, कमी, और छुटकारा। केवल तब मन मुक्ति चख पाएगा।

शमथ और विपश्यना के विकास को और बहुत से मानसिक भावों, गुणों, और साधना विधियों की ज़रूरत होती है। इसीलिए बुद्ध इन्हें एक महान कार्यक्रम का हिस्सा बनाकर सिखाते थे, जिसमें शामिल है आर्य लोगों का आदर करना, मानसिक आश्रवों को त्यागने की सातों

तरकीबें सीखना, और आर्य मार्ग के आठों अंगों को विकसित करना। पूरी साधना को किसी एक छोटे अंश के समान मानने से परिणाम भी छोटे मिलेंगे, क्योंकि साधना बढ़ईगिरी की तरह एक कौशल है, जिसमें निपुणता प्राप्त करने हेतु, अलग-अलग परिस्थितियों के मुताबिक ढ़ेर सारे उपकरणों के उपयोग में निपुणता प्राप्त करनी होगी। अपने आप को केवल एक साधना प्रयोग में सीमित रखने का मतलब जैसे अगर कोई घर बनाने की कोशिश कर रहा हो, मगर उसका इरादा कच्चा है, और उसकी औजार पेटी में केवल हथौड़े ही हैं।

# *शून्यता क्या है?*

"शून्यता" एक प्रकार के नज़रिए को कहते हैं। अपने अनुभव को देखने का यह एक विशेष ढंग है, जहां शारीरिक और मानसिक घटनाओं के "कच्चे" अनुभव में न तो कुछ डाला जाता है, न उससे कुछ हटाया जाता है। मन और इन्द्रियों में जो कुछ भी घट रहा हो, उसे जाना जाता है, बिना विचारे कि इन घटनाओं के पीछे कुछ मौजूद है या नहीं।

इस नजरिए को शून्य कहते हैं क्योंकि इसमें हम अपनी कोई पूर्वधारणा नहीं डाल रहे। आम तौर पर, अपने अनुभव को समझने के लिए हम हमेशा कोई धारणाएं लेकर आते हैं – कहानियां और मान्यताएं जिनके ज़रिए हम स्वयं को समझते हैं और अपनी दुनिया को परिभाषित करते हैं। हालांकि इन कहानियों और मान्यताओं का कहीं सदुपयोग भी हो सकता है, भगवान बुद्ध ने पाया कि इनसे उत्पन्न होने वाले कुछ ऊंचे-ऊंचे अमूर्त प्रश्न – जैसे कि अपनी असली पहचान, अपनी आत्मा का स्वभाव, और बाहरी दुनिया का अस्तित्व – हमें वर्तमान के प्रत्यक्ष अनुभव से भटका देते हैं। फिर हम यह समझ नहीं पाते कि तत्कालीन घटनाएं एक दूसरे पर कैसा प्रभाव कर रही हैं, और इस कारण, दुख को समझने और उससे मुक्त होने से वंचित रह जाते हैं।

उदाहरण के लिए, मान लीजिए कि ध्यान करते समय तुम्हें अपनी माँ के प्रति क्रोध की भावना महसूस होती है। उसी क्षण, मन प्रतिक्रिया करता है और उस क्रोध को अपना लेता है – "मेरा क्रोध" या "मुझे क्रोध आया है।" फिर उस भावना की व्याख्या करता है, या तो तुम्हारी माँ के साथ तुम्हारे रिश्ते की कहानी में जोड़कर, या विचार करके कि कब और किस स्थिति में माँ के प्रति क्रोध जायज़ हो सकता है।

बुद्ध की दृष्टि से, इस सब में समस्या यह है कि इन सारी बातों से बहुत दुख उत्पन्न होता है। जितना तुम इनमें घुसोगे, उतना ही दुख के असली कारण से भटकते जाओगे – जो है ये "मैं, मेरा" का थोप जिससे पूरी प्रक्रिया शुरू हुई। परिणामस्वरूप, तुम इस कारण को हटाने का उपाय नहीं ढूंढ पाओगे जिससे दुख समाप्त हो जाए।

पर यदि तुम क्रोध जागने पर शून्यता की मानसिक स्थिति अपना पाओ, बिना कोई प्रतिक्रिया किए, बिना उसे कोई बाहरी संदर्भ में डाले, बस उसे एक घटनाओं की श्रृंखला के रूप में देखकर, तो तुम देख पाओगे कि उस क्रोध में इस लायक कुछ भी नहीं जिसे तुम अपनाना चाहो। इस प्रकार, वह शून्य है। जैसे–जैसे तुम शून्यता के दृष्टिकोण को कायम रखना सीखते हो, पाओगे कि यह सत्य केवल क्रोध जैसी स्थूल भावनाओं पर ही नहीं, बल्कि संसार-जगत के सूक्ष्मतम अनुभवों पर भी लागू होता है। इस अर्थ में, सब कुछ शून्य है। इस बात को जानकर बोध होता है कि "मैं, मेरा" का थोप अनुचित है, अनावश्यक है, और केवल दुख ही जन्मता है। अब उसे त्याग दिया जा सकता है। जब पूरी तरह से त्याग दिया जाए, तब उस शून्य दृष्टिकोण से भी एक गहरा अनुभव होता है, परिपूर्ण मुक्ति का।

ऐसे शून्य नज़रिए में कुशल बनने के लिए शील, समाधि और प्रज्ञा में कड़े प्रशिक्षण की आवश्यकता होती है। नहीं तो, मन अपने पुराने नज़रिए में ही कैद रहता है – स्वयं और विश्व के बारे में कहानियां बनाने वाला। और इस पुराने नज़रिए से देखें तो शून्यता की शिक्षा एक और

कहानी लगती है, बस नए नियमों के साथ। तुम्हारी माँ के साथ तुम्हारे रिश्ते के संदर्भ में, ऐसा लगता है कि शून्यता का मतलब यह कि वास्तव में न कोई तुम हो, न कोई मां। तुम्हारी विश्वदृष्टि के संदर्भ में, ऐसा लगता है कि शून्यता का मतलब या तो यह कि विश्व है ही नहीं, या यह कि शून्यता पूरे लोक के कोई महान, अद्वैत अस्तित्व का आधार है, जिससे हम सब उत्पन्न हुए हैं और जिसमें एक दिन सब लौट जाएंगे।

ये व्याख्याएं शून्यता का अर्थ ही नहीं समझतीं; और तो और, मन को सही दृष्टिकोण अपनाने से भी रोकती हैं। अगर तुम्हारी जीवनकथा की दुनिया और उसके लोग सच में हैं ही नहीं, तो उस कथा की सारी क्रियाएं-प्रतिक्रियाएं बस शून्यों के गणित जैसी लगती हैं, और मन सोचने लगता है कि शील पालन करने का फ़ायदा ही क्या? वहीं दूसरी ओर, अगर शून्यता को पूरे अस्तित्व के आधार के रूप में देखा, जिस में हम सब एक दिन समा जाएंगे, तो समाधि और प्रज्ञा में प्रशिक्षण लेने की क्या ज़रूरत है, क्योंकि आखिरकार हम वहां पहुंच ही तो जाएंगे? और अगर वहां पहुंचने के लिए प्रशिक्षण की ज़रूरत भी हो, कौन कह सकता है कि हम वहां से वापस बाहर निकलकर दुख में फिर डूब नहीं जाएंगे? तो इन सारी परिस्थितियों में मन को प्रशिक्षित करने का उपाय ही व्यर्थ लगता है। अनुभव के पीछे कुछ मौजूद है या नहीं, इस प्रश्न पर ध्यान देने से मन ऐसी बातों में उलझ जाता है जो उसे वर्तमान का नज़रिया अपनाने नहीं देती।

ऐसा नहीं है कि कहानी और विश्वदृष्टि हमेशा बुरी बात है। लोगों को धर्म सिखाने के लिए बुद्ध भी इनका उपयोग करते थे, मगर इस दौरान वे "शून्यता" शब्द का कभी इस्तेमाल नहीं करते थे। वे लोगों की जीवनकथाएँ सुनाकर ज़ाहिर करते थे कि कैसे उन लोगों के कर्मों के पीछे अकुशल धारणाओं की वजह से उनके दुख उत्पन्न हुए, और कैसे वे और संवेदनशील बनकर दुख से छुटकारा पा पाए। और बुद्ध संसार चक्र के मूलभूत सिद्धांतों की भी व्याख्या करते थे, जिसे विश्वदृष्टि माना जाएगा। उन सिद्धांतों से पता चलता है कि बुरे इरादों के कर्म दुखद जन्म की ओर लेकर जाते हैं, और नेक इरादों के कर्म सुखद, और तो और, सबसे कुशल कर्म पुनर्जन्म के चक्र से ही परे ले जाते हैं। इन सारी परिस्थितियों में उनकी शिक्षा का उद्देश्य था लोगों को उत्साहित करना कि वे वर्तमान में अपने इरादों और धारणाओं की गुणवत्ता पर ध्यान दें – यानी कि, वे शून्य दृष्टिकोण अपनाने के लिए उत्साहित हो जाएं। वहां पहुंचकर, वे शून्यता की शिक्षा का सही उपयोग कर सकते हैं – सभी दृष्टियों, कहानियों, और मान्यताओं के लगाव को शून्य कर देना, जिससे मन का राग, द्वेष और मोह पूरी तरह से शून्य हो जाता है, यानी कि, हर प्रकार का दुख शून्य हो जाता है। अंत में, केवल यही शून्यता सच में मायने रखती है।

# *अनात्म का मतलब?*

बौद्ध धर्म समझने के प्रारंभिक कदम में ही एक अड़चन आ जाती है, और वह है “अनत्ता” का शिक्षण, जिसे अक्सर “आत्म/स्वयं के अस्तित्वहीनता” के रूप में सिखाया जाता है। इस पर अटक जाने के दो कारण हैं। पहला यह, कि यह बात – आत्म या स्वयं की अस्तित्वहीनता – बाकी बौद्ध सिद्धांतों से मेल नहीं खाती, जैसे कि कर्म का सिद्धांत। अगर आत्म नहीं, तो कर्मों के फल कौन भोगता है? पुनर्जन्म कौन लेता है? अटकने का दूसरा कारण यह, कि यह बात बुद्ध के पूरे शिक्षण को नकारती लगती है – अगर मैं स्वयं हूं ही नहीं, तो साधना का क्या फ़ायदा? किसको लाभ होने वाला है?

ढेरों लेखक इन प्रश्नों पर चर्चा करते आए हैं, मगर पाली सूत्रों में इनका कोई उल्लेख नहीं। वास्तव में, इकलौती बार जब बुद्ध से कोई सीधा-सीधा पूछता है कि आत्म है के नहीं, वे उत्तर नहीं देते। बाद में, अपने मौन का कारण पूछे जाने पर, कहते हैं कि कोई भी उत्तर देना – या तो हां, आत्म है, या फिर ना, आत्म नहीं है – दोनों घोर प्रकार की मिथ्या दृष्टि में आते हैं, जिनको अपनाने पर उनका सिखाया गया साधना का मार्ग असंभव हो जाता है। इसलिए प्रश्न ही छोड़ देना उचित है।

इस प्रश्न पर उनका मौन रहना अनत्ता के बारे में क्या कहता है, यह समझने के लिए हमें पहले देखना होगा कि बुद्ध प्रश्नों के बारे में क्या सिखाते हैं – प्रश्न पूछने, उत्तर देने, और उत्तर समझने के उचित ढंग क्या हैं?

अंगुत्तर निकाय 4:42 (“पञ्हब्याकरण सुत्त” यानी कि “प्रश्नों के व्याकरण वाला सूत्र”) में बुद्ध प्रश्नों को चार वर्गों में बांटते हैं – वैसे प्रश्न जिनका सीधा उत्तर दिया जाना चाहिए – जैसे “हां” या “ना,” वैसे प्रश्न जिनका विष्लेषण करके उत्तर दिया जाना चाहिए, वैसे प्रश्न जिनके उत्तर में पूछने वाले से ही प्रति-प्रश्न पूछा जाना चाहिए, और वैसे प्रश्न जिन्हें एक ओर रख कर उपेक्षित कर देना चाहिए। इस आखरी वर्ग में शामिल हैं वे प्रश्न जो दुख के अंत की ओर नहीं लेकर जाते। किसी आचार्य का प्रश्न पूछे जाने पर पहला कर्तव्य है यह पता लगाना कि प्रश्न किस वर्ग का है, और फिर उसके मुताबिक ही उत्तर देना। किसी उपेक्षा करने योग्य प्रश्न के उत्तर में सीधा “हां” या “ना” नहीं कह देना चाहिए। उपेक्षा योग्य प्रश्न पूछने वाले को यदि जवाब मिल जाए, तो उसे देखना होगा कि उत्तर की व्याख्या किस हद तक की जानी चाहिए। बुद्ध ने कहा कि दो प्रकार के लोग उन्हें गलत तरह से प्रस्तुत करते हैं – वे, जो उनकी उन बातों का निष्कर्ष निकालते हैं जिनका निष्कर्ष निकालना अनुचित है, और वे, जो उनकी उन बातों का निष्कर्ष नहीं निकालते जिनका निष्कर्ष निकालना उचित है।

भगवान बुद्ध की वाणी को समझने के ये बुनियादी नियम हैं, मगर यदि हम अनत्ता के सिद्धांत पर अधिकांश लेखकों के विचार पढ़ें, तो पाएंगे कि ये मूलभूत नियम भुला दिए गए हैं। कुछ लोग कहते हैं कि बुद्ध ने किसी “नित्य आत्मा” या “पूरे ब्रह्मांड से अलग आत्मा” के अस्तित्व का इनकार किया है, और इस प्रकार ये लेखक “आत्मा की अस्तित्वहीनता” वाली व्याख्या का विस्तार करते हैं। मगर यह कहने से तो उस प्रश्न का विश्लेषण करके उत्तर दिया जा

रहा है जिसे बुद्ध उपेक्षा योग्य दिखलाते हैं। अन्य लोग सूत्रों के कुछ वचनों से “आत्म नहीं है” वाला निष्कर्ष निकालने का प्रयत्न करते हैं, मगर ऐसा लगता है कि अगर उन वचनों का उपयोग एक उपेक्षा-योग्य प्रश्न के उत्तर देने के लिए किया जा रहा है, तो यहां जबरदस्ती से निष्कर्ष निकालना अनुचित बात हुई।

तो, आत्म है या नहीं – पूरे लोक से संयुक्त या अलग, नित्य या नश्वर – इस प्रश्न के उत्तर में “ना” कहने की जगह बुद्ध मानते हैं कि प्रश्न ही भ्रमित है। क्यों? क्योंकि “स्वयं” और “अन्य” के बीच की रेखा जैसे भी परिभाषित की जाए, स्वयं की अवधारणा में आसक्ति की झलक तो होगी ही, यानी कि दुख और तनाव की। यह बात एक संयुक्त आत्म पर भी उतनी ही लागू होती है, जिसके लिए “अन्य” कुछ नहीं, जितनी कि अलग या वियुक्त आत्म पर। अगर तुम पूरी प्रकृति को अपना आप मानते हो, तो प्रत्येक पेड़ के काटे जाने पर दर्द होगा। साथ ही, यह बात एक पूरी तरह से “अन्य” ब्रह्मांड पर भी लागू होती है, जिसमें अलगाव, अकेलेपन और निरर्थकता का आभास इतना घातक हो जाएगा कि सुख खोजना ही असंभव हो जाए। “क्या मैं हूं? क्या मैं नहीं हूं?” – बुद्ध इन प्रश्नों की उपेक्षा करने की सलाह देते हैं क्योंकि इनका उत्तर जैसे भी दिया जाय, दुख का स्रोत ही बनेगा।

“स्वयं” और “अन्य” के प्रश्नों में निहित दुख से बचने के लिए, बुद्ध एक दूसरे ढंग से अनुभव को विभाजित करते हैं – चार आर्य सत्यों के जरिए, यानी कि दुख, उसका कारण, उसका निवारण, और निवारण का मार्ग। ये सत्य कोई दावे नहीं हैं, ये अनुभव के वर्ग हैं। इन वर्गों को स्वयं या अन्य से जोड़कर देखने की बजाय, वे कहते हैं, इन्हें बस अपने आप में पहचानना चाहिए, अपने ही संदर्भ में, जैसे घटित होते हैं, और इनसे जुड़े कर्तव्यों को निभाना चाहिए। दुख को समझना चाहिए, उसके कारण को छोड़ देना चाहिए, उसके निवारण का साक्षात्कार करना चाहिए, और निवारण के मार्ग का विकास करना चाहिए।

अनत्ता के सिद्धांत को इन कर्तव्यों के संदर्भ में समझना चाहिए। अगर तुम शील, समाधि और प्रज्ञा का मार्ग विकसित करके एक शांत और सुखद मानसिक स्थिति तक पहुंच सको, और उस स्थिति का उपयोग करके अनुभव को चार आर्य सत्यों के तौर पर देख सको, तो मन को ऐसे प्रश्न नहीं सूझते कि “क्या आत्म है? मेरा आत्म क्या है?” बल्कि ऐसे, कि “इस घटना को पकड़कर रखने से क्या दुख और तनाव पैदा होता है? क्या यह सच में ‘मैं’ या ‘मेरी’ है? अगर दुखद है, पर ‘मैं’ या ‘मेरी’ नहीं, तो क्यों पकड़कर रखूं?” ये आखरी प्रश्न सीधे उत्तर के लायक हैं, क्योंकि वे दुख समझने में और आसक्ति घटाने में मदद करते हैं। ऐसा करते करते, दुख का कारण, यानी कि आसक्ति, धीरे धीरे समाप्त होता जाता है। अंत में, पूरी तरह खत्म होने पर बस असीमित मुक्ति ही बचती है।

इस प्रकार, अनत्ता की शिक्षा “आत्म नहीं है” का सिद्धांत स्थापित नहीं कर रही, बल्कि दुख समाप्ति की एक रणनीति है, जिसके जरिए दुख का कारण छोड़कर सर्वोत्तम सुख पाया जा सकता है। उस अवस्था में, आत्म है, नहीं है, मैं या मेरा क्या है, ये सारे प्रश्न कोई मायने नहीं रखते। आखिरकार, इतनी संपूर्ण मुक्ति के अनुभव में अनुभव करने वाले की कहां कोई परवाह, या यह पता लगाने कि, कि वह आत्म है या नहीं?

# *निर्वाण की छवि*

आग कैसे बुझती है, यह हम सब जानते हैं। आग की लपटें शांत होकर नष्ट हो जाती हैं। तो जब पता चलता है कि बौद्ध साधना के लक्ष्य के नाम, निर्वाण, का मतलब होता है आग का बुझ जाना, यह ख्याल बिल्कुल जानलेवा सा लगता है – पूर्ण विनाश। वास्तव में, यह एक अनुवाद की गलतफहमी है – शब्द के अनुवाद की नहीं, बल्कि शब्द के पीछे की छवि की। बुद्ध के ज़माने के लोग क्या आग के बुझ जाने को उसका विनाश समझते थे? बिल्कुल भी नहीं।

प्राचीन ब्राह्मणों के मुताबिक, आग बुझ कर एक अव्यक्त अवस्था में चली जाती है। किसी भी प्रकार के जलावन या ईंधन से बंधन तोड़कर – जैसे कोयला या लकड़ी – वह नष्ट होने की जगह अप्रकट होकर पूरे ब्रह्मांड में फैल जाती है। ब्राह्मणों को निर्वाण के बारे में समझाने के समय जब बुद्ध इस प्रतीक का उपयोग करते थे, तब वे बुझी हुई आग के अस्तित्व की बात को छोड़कर, इस बात पर ध्यान देते थे – कि एक आग जो जले नहीं, उसकी परिभाषा करना असंभव है। उनके वचन इस अर्थ को लेकर समझ में आते हैं, कि जो व्यक्ति पूरी तरह से "बुझ" गया है, उसकी व्याख्या नहीं की जा सकती।

मगर अपने शिष्यों को सिखाने वक्त बुद्ध निर्वाण को मुक्ति का रूपक मानकर समझाते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन भारत में लगभग सब लोग जलती आग को तड़पती, फंसी हुई, और निर्भर समझते थे, अपने ईंधन से आसक्त, और उसके कारण अटकी हुई। आग जलाने के लिए उसका कब्ज़ा करना होता है। जब आग अपने ईंधन को छोड़ देती है, तब वह अपनी व्याकुलता और निर्भरता छोड़कर अपने जंजाल से मुक्त हो जाती है – शांत और असीमित हो जाती है। इसलिए पाली काव्य में मुक्ति के लिए बुझी हुई आग का रूपक बार-बार इस्तेमाल किया गया है। असल में, सूत्रों में आग से संबंधित दो और रूपक दिखाई देते हैं। "उपादान" का अर्थ, "आसक्ति" के साथ-साथ यह भी है – किसी आहार से पोषण ग्रहण करना, जैसे कि आग ईंधन से करती है। "खंध" यानी "स्कंध," मतलब "टुकड़ा," पांच स्कंधों को कहते हैं जिनसे संसार जगत का हर अनुभव बनता है – रूप, संवेदना, संज्ञा, संस्कार, और चैतन्य – और साथ में, पेड़ के तने को भी कहते हैं। जैसे कि आग ईंधन से पोषण ग्रहण करना छोड़कर, उससे आसक्ति त्यागकर, बुझ जाती है, वैसे ही मन स्कंधों से आसक्ति छोड़कर मुक्त हो जाता है।

तो निर्वाण के पीछे जो छवि है, वह मुक्ति की है। पाली टिप्पणियां इस बात की पुष्टि करतीं हैं। "निर्वाण" शब्द को विभाजित करके मूल अर्थ निकालती हैं "निर्बंधन।" किस प्रकार का निर्बंधन? सूत्र दो प्रकार के निर्बंधन की व्याख्या करते हैं। पहला, इसी जीवन में निर्बंधन, जिसे संकेत दिया है एक बुझी हुई आग का, जिसके कोयले अभी फिलहाल गर्म हैं। यहां बात की जा रही है पूरी तरह से मुक्त अरहंत की, जो दृश्यों और ध्वनियों के प्रति सचेत है, शारीरिक स्तर पर सुखद और दुखद संवेदनाएं महसूस करता है, मगर राग, द्वेष और मोह से मुक्त हो चुका है। निर्बंधन के दूसरा स्तर को संकेत दिया गया है एक इतनी पूरी तरह से बुझी हुई आग का जिसके कोयले भी ठंडे हो गए हों – यह अनुभव अरहंत का इस जीवन के बाद। इंद्रियों का सारा

अनुभव पूरी तरह से ठंडा हो जाता है, और अरहंत धीमे-से-धीमे प्रकार के भी तनाव से मुक्त हो गया है, स्थान और समय की हर सीमा से मुक्त हो गया है।

बुद्ध दोहराते हैं कि यह स्तर अव्याख्येय है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि अरहंत का अस्तित्व है या नहीं, क्योंकि भाषा केवल सीमाओं के भीतर लागू हो सकती है। रूपक और प्रतीक के सिवा वे बस इतना कहते हैं कि उस अनुभव के पूर्वस्वाद को इस जीवन में स्वयं लेना संभव है, और कि वह ही परम सुख है, सचमुच जानने योग्य।

तो अगली बार जब तुम आग को बुझते देखो, तब उस दृश्य को विनाश का उदाहरण न मानकर, यह समझो कि त्यागने से मुक्ति कैसे प्राप्त होती है।

# Table of Contents


| | |
|---|---|
| शीर्षक पृष्ठ | 1 |
| कॉपीराइट | 2 |
| भूमिका | 4 |
| हृदय के सत्यों का समर्थन | 5 |
| कर्म | 9 |
| निर्वाण का मार्ग कुशल इरादों से बनता है | 11 |
| शील की औषधीय शक्ति | 16 |
| सम्यक वचन | 19 |
| जलेबी के बदले में सोना | 21 |
| एक निर्देशित ध्यान प्रयोग | 25 |
| स्मृति और समाधि का मार्ग | 29 |
| अनेक उपकरणों में से एक उपकरण | 36 |
| शून्यता क्या है? | 43 |
| अनात्म का मतलब? | 45 |
| निर्वाण की छवि | 47 |